विषय-सूची



चन्द्रगुप्त : १ :

ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व भारत में मगध राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य था। इस राज्य का राजा महापद्मनन्द था। कहा जाता है कि महापद्म निम्नवंश का वंशज था और चालाकी से सिंहासन पर बैठा था। सिंहासन का वास्तविक उत्तराधिकारी दूसरा ही व्यक्ति था, चन्द्रगुप्त। चन्द्रगुप्त के पिता प्रतापी मगध वंश के थे, परन्तु माँ मुरा निम्नवंश की थी। इसी का बहाना बनाकर महापद्मनन्द ने उसे सिंहासन पर नहीं बैठने दिया था, और राज्य से बाहर निकाल दिया था।

युवक चन्द्रगुप्त के पास न कोई सहायक था, न साधन, जिनकी सहायता से वह अपने राज्य को प्राप्त कर सकता। फिर भी वह सदैव प्रयत्नशील रहता था कि मगध का राज्य उसे प्राप्त हो सके। ईसा से ३२७ वर्ष पूर्व जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, तब चन्द्रगुप्त सिकन्दर से जाकर मिला था, और उसने सिकन्दर को परामर्श दिया था कि वह मगध पर आक्रमण करे। नन्द के राज्य से प्रजा अप्रसन्न थी, और स्वयं नन्द डरपोक व्यक्ति था, इसलिए सिकन्दर की जीत एक प्रकार से निश्चित थी। परन्तु कुछ व्यावहारिक कारणों से सिकन्दर इस परामर्श के अनुकूल कार्यवाही नहीं कर सका।

बाद में, सिकन्दर की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् ही चन्द्रगुप्त ने, जो युद्धकला में निपुण बन चुका था और साथ ही एक छोटी सेना का सेनापति भी, सिकन्दर के भारत स्थित सरदारों की छावनियां लूटकर उन पर कब्जा कर लिया। सारा पंजाब जीत लेने के बाद वह

मगध की ओर, जो उसकी जन्मभूमि थी, और जिसका वह असल उत्तराधिकारी था, बढ़ा।

चन्द्रगुप्त के आरम्भिक जीवन के विषय में कई मत हैं यह जानना कठिन है कि उनमें सचाई किस सीमा तक है।

पुराणों के अनुसार ब्राह्मण कौटिल्य—चाणक्य ने शूद्रवंश नन्द राजाओं को गद्दी से हटाकर क्षत्रिय चन्द्रगुप्त को उस गद्द पर आसीन किया। कौटिल्य ने अपने "अर्थशास्त्र" में जोर देक कहा है कि राज्य भार क्षत्रियों को ही ग्रहण करना चाहिए। इस सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय रहे होंगे, क्योंकि चाणक्य कभ शूद्र को शासक नहीं बना सकते थे।

परन्तु संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक, 'मुद्राराक्षस' के अनुसा चन्द्रगुप्त नन्दवंश के ही थे, अर्थात् शूद्र थे। नाटक में उन्हें 'कुल हीन' निम्नवंश का कहा गया है। परंतु नाटक के कथन को पूर्ण सत नहीं स्वीकार किया जा सकता।

१८वीं शताब्दि के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक धुन्डीराज ने लिख है कि चन्द्रगुप्त निश्चित रूप से एक शुद्र स्त्री मुरा की संतान थे और उनके पिता का नाम सर्वरयसिद्ध था। सर्वरथ की दूसर पत्नी सुनन्दा से नन्द का जन्म हुआ, जिससे नन्द राज्यवंश आरम हुआ।

काश्मीर के दो ग्रन्थों, सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर' औ क्षेमेन्द्र कृत 'वृहत्कथा मंजरी' में चन्द्रगुप्त के जन्म की कथा दूसर ही रीति से लिखी है। इन लेखकों के अनुसार चन्द्रगुप्त 'पूर्वनन्द नामक राजा के पुत्र थे। यह पूर्वनन्द दूसरे नन्द 'योगानन्द' भिन्न था।

परन्तु इन सब मतों में सबसे अधिक प्रामाणिक मत बौद्धों क

गाना जाना चाहिए । बौद्धों के अनुसार चन्द्रगुप्त का जन्म क्षत्रिय जाति के मयूरिया वंश में, जो भगवान् बुद्ध के 'शाक्यवंश' का एक उपवंश था, हुआ था। 'मयूरिया' शब्द बौद्धों के अनुसार मयूर—मोर—से बना है । ऐसा कहा जाता है कि कौशल के निर्दयी राजा विदुघत्र से त्रस्त होकर इस उपवंश के लोग हिमालय के एक ऐसे भृङ्ग में छिपने के लिए गये, जहां मोरों की अधिकता थी । इसलिए इन लोगों का वंशनाम भी इस स्थान के आधार पर बाद में 'मौर्य' पड़ गया। एक दूसरी कथा के अनुसार ये लोग 'मयूर नगर' के वासी थे, जहां की ईंटें मोरों की गर्दनों जैसी होती थीं। इसलिए इनके वंश का नाम 'मौर्य' पड़ा ।

जैनियों के एक ग्रन्थ 'परिशिष्टप्रवण' में कहा गया है कि चन्द्रगुप्त का परिवार मोरों को पालता था। यूनानी लोगों के भारतीय इतिहास में भी 'मोरी वंश' का उल्लेख आया है।

बौद्धों के एक अन्य ग्रन्थ में चन्द्रगुप्त को स्पष्ट रूप से क्षत्रिय जाति का बताया है । 'दिव्यवदन' नामक ग्रन्थ के लेखक ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त का पुत्र बिन्दुसार और उसका पोता अशोक दोनों क्षत्रिय थे ।

इसमे सन्देह नहीं कि 'मौर्य' शब्द का 'मयूर' से गहरा सम्बन्ध है। नन्दगढ़ में स्थापित अशोक के स्तम्भ के मूल में मोर का चित्र अंकित है। सांची के कई स्तूपों मे भी मोर के चित्र हैं।

यूनानी इतिहास के लेखक जस्टिन ने चन्द्रगुप्त के विषय में लिखा है कि उसका जन्म निम्नवंश में हुआ था। एक अन्य यूनानी इतिहास-लेखक ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर से कहा था कि मगध का राजा नन्द अपने बुरे व्यवहार तथा निम्नवंश का होने के कारण ही प्रजा में लोकप्रिय नहीं है।

३२३ बी० सी० में सिकन्दर की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पहले भारत में भी कई यूनानी सरदारों की हत्यायें हो चुकी थीं, और भारत ने यूनानियों के बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। ठीक इसी समय चन्द्रगुप्त ने विद्रोहियों के नेता के रूप में भारत के राजनीतिक रंगमच पर प्रवेश किया।

यूनानी इतिहास के लेखक जस्टिन ने लिखा है—'सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् भारत के राजाओं को लगा, जैसे उनके कधों पर से एक भारी बोझ हट गया। धीरे-धीरे उन्होंने चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में स्वतन्त्र होने के प्रयत्न आरम्भ किये।

पंजाब को यूनानियों के शासन से मुक्त करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त का ध्यान मगध की ओर आकृष्ट हुआ, जहाँ नन्द राज्य कर रहा था। मगध पर उसके आक्रमण का पूरा विवरण उपलब्ध नहीं है, पर जो विवरण प्राप्त है, उससे ज्ञात होता है कि यह एक सुयोजित आक्रमण था। परन्तु चन्द्रगुप्त ने भूल यह की कि उसने पाटलीपुत्र तथा मगध पर आक्रमण करने से पूर्व पंजाब तथा मगध के बीच के राज्यों को अपने अधीन नहीं किया, और इसका फल यह हुआ कि उसकी सेना इन राज्यों की सेनाओं से घिर गई। जिन कुछ राज्यों को उसने जीता भी, उनमें उसने अपने प्रतिनिधि और सैनिक नहीं छोड़े। बाद में उसने इन दोनों भूलों को ठीक कर लिया, और अन्त में नन्द को मारकर स्वयं मगध और पाटलीपुत्र का राजा बना।

नन्द के साम्राज्य का स्वामी बनने के लिए चन्द्रगुप्त को कई बार लड़ना पड़ा। क्योंकि नन्द के पास दो लाख से अधिक पैदल सेना, २०,००० घुड़सवार, २००० रथ और रथवान और ३००० हाथी थे। नन्द को दूसरा परशुराम कहा जाता था, क्योंकि उसने सब क्षत्रियों का अन्त करके अपना साम्राज्य पंजाब तक बढ़ा लिया था।

उसके पास अपार धन और सेना थी। लेकिन क्रूर होने के कारण वह लोकप्रिय नहीं था।

नन्द को परास्त करने पर चन्द्रगप्त इतने विशाल साम्राज्य का स्वामी तो वन ही बैठा, साथ ही इस विजय से उसके गुरु चाणक्य की भी, जिसका नन्द ने एक वार घोर अपमान किया था, नन्द से वदला लेने की इच्छा पूर्ण हुई।

मगव की जीत के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने यूनानी सरदार सैल्यूकस को भी हराया और भारत के उन दक्षिणी भागों को भी अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया जो नन्द नहीं जीत सका था। सैल्यूकस चन्द्रगुप्त को हराकर सिकन्दर की भान्ति भारत का सम्राट् बनना चाहता था, पर उसे हारकर चन्द्रगुप्त से संधि करनी पड़ी। सैल्यूकस की हार के पश्चात् चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का विस्तार ईरान की सीमा तक हो गया, क्योंकि कावुल, हेरात, कन्धार, वलूचिस्तान और अफ़गानिस्तान के राज्य सैल्यूकस के अधिकार में थे।

दक्षिण में चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमायें आधुनिक मैसूर के शिकारपुर ताल्लुका तक थीं। दक्षिण-भारत में चन्द्रगुप्त ने कोंकण प्रदेश द्वारा प्रवेश किया।

गत दो हजार वर्षों में जितने विस्तृत साम्राज्य पर राज्य करने का सौभाग्य न मुगलों को मिल सका, और न अंग्रेजों को ही, उतने वड़े राज्य का विस्तार चन्द्रगुप्त ने केवल १८ वर्ष में ही किया। उसकी इस असाधारण विजय के कारण उसकी गणना भारत के ही नहीं, संसार के इने-गिने प्रतापी राजाओं में होती है।

इतने वड़े राज्य का संचालन चन्द्रगुप्त कैसे करता था, इसका कुछ आभास उस वर्णन से हो सकेगा जो मैगस्थनीज नामक यूनानी राजदूत ने अपनी पुस्तक में लिखा है मैगस्थनीज कई वर्षों तक

सम्राट् अपना अधिकाँश समय राजमहल में ही व्यतीत करते थे। और बाहर केवल फरियाद सुनने, पूजा या यज्ञादि में भाग लेने या आखेट पर जाने के लिए आते थे। परन्तु दिन में वह एक बार दरबार में अवश्य बैठकर प्रजा को दर्शन देते थे और उसकी प्रार्थनाएं सुनते थे।

इन सारे सुखों के बीच भी सम्राट् को पूरी आंतरिक शान्ति प्राप्त नहीं थी। उन्हें हर व्यक्ति पर सन्देह रहता था। शत्रुओं के भय से वह न कभी दिन में सोते थे और न उस भोजन को ग्रहण करते थे जो पहले अन्य किसी व्यक्ति द्वारा चख न लिया गया हो।

चन्द्रगुप्त की विशाल सेना का खर्च भी बड़ा था। उसकी सेना की संख्या के आँकड़े पीछे दिये जा चुके हैं। प्रत्येक घुड़सवार के पास दो भाले रहते थे और हर सैनिक के पास तलवार और तीर-कमान। चन्द्रगुप्त के सैनिक कमान को पृथ्वी पर रखकर इतने जोर के साथ तीर चलाते थे कि वह कवचों को भी भेदता हुआ शरीर के अन्दर चला जाता था। प्रत्येक महारथी के रथ में दो या चार घोड़े जुते रहते थे और उस पर सारथी के अतिक्ति दो सशस्त्र सैनिक रहते थे। हाथी पर महावत के अतिरिक्त तीन निशानची रहते थे। इस प्रकार ९००० हाथियों के साथ ३६००० सशस्त्र सैनिक और ८००० रथों के साथ २४००० सशस्त्र सैनिक हो जाते थे। कुल मिलाकर सैनिकों की संख्या ६,९,०००० के लगभग थी। इस संख्या में सेना के साथ चलने वाले कार्यकर्ताओं का समावेश नहीं किया गया है। इतनी बड़ी सेना रखने का सौभाग्य मुगलों को भी नहीं मिला।

इस सेना का संचालन एक युद्ध-विभाग करता था, जिसके तीस सदस्य थे और छः उप-विभाग। पहला उप-विभाग नौ-सेना का संचालन करता था। और दूसरा उप-विभाग, सेना के याता-

में बेइमानी करने वालों को कड़ी सजा दी जाती थी।

पाँचवाँ विभाग राजधानी में निर्मित वस्तुओं की देख-रेख के लिये था। छठे विभाग का कार्य प्रत्येक बिक्री वस्तु पर क्रय कर, (आजकल के सेल्स-टैक्स के समान) वसूली करने का था। हमारे देश में वर्तमान सेल्स-टैक्स का प्रबन्ध श्री राजगोपालाचारी ने १९३७ के प्रान्तीय काँग्रेसी मंत्रिमंडलों के समय में किया था। हो सकता है कि उन्हें यह विचार चन्द्रगुप्त की शासन-प्रणाली के अध्ययन से आया हो। परन्तु एक बात पर आश्चर्य होता है। चन्द्रगुप्त के समय में इस क्रय-कर को न देने वालों की सजा मौत थी। कहा नहीं जा सकता कि इस अपराध के लिए इतनी कड़ी सजा क्यों रखी गई?

तक्षशिला, उज्जैन तथा अन्य बड़े नगरों का प्रबन्ध भी उपरोक्त रीति से होता था। अपने-अपने विभागों के कार्यों को देखने के अतिरिक्त कार्यकारिणी-सभा, नगर के मन्दिरों, मकानों और बाज़ारों की सफाई आदि की व्यवस्था भी करती थी।

सारा देश कई प्रान्तों में विभाजित था और उनके शासक गवर्नर होते थे। यह गवर्नर राजवंश के रहते थे। चन्द्रगुप्त का साला काठियावाड़ का गवर्नर था।

यद्यपि उन दिनों आजकल की भाँति पत्रों का प्रकाशन नहीं होता था, फ़िर भी राज्य की ओर से प्रत्येक नगर में "सम्वाददाता" नियुक्त थे, जिनका कार्य राजदरबार को स्थानीय महत्वपूर्ण समाचार नियमित रूप से भेजते रहने का था। इन सम्वाददाताओं द्वारा भेजे गये सम्वाद गुप्त होते थे, परन्तु विदेशी लेखकों का कहना है कि सम्वाद बिल्कुल सच्चे भेजे जाते थे। उनमें अतिशयोक्ति या पक्षपात कतई नहीं रहता था।

सत्य बोलने का यह स्वभाव सम्वाददाताओं में ही नहीं, सामान्य प्रजा में भी था। अपराधों की संख्या बहुत कम थी। मैगस्थनीज ने लिखा है कि ४००,००० की आबादी वाले चन्द्रगुप्त के एक सैन्य शिविर में दिन भर में केवल १००) रुपये की चोरी हुई। अपराध सिद्ध हो जाने पर अपराधी को अंगभंग की या मौत की सजा दी जाती थी। न्याय बहुत निर्मम था, परन्तु उसकी शरण में जाने की आवश्यकता भी लोगों को बहुत कम पड़ती थी।

किसानों से उनकी पैदावार का एक चौथाई भाग लगान रूप में वसूल किया जाता था। किसानों को अनेकानेक सुविधायें प्राप्त थीं और युद्ध के अवसर पर सैनिकों द्वारा भूमि की विशेष रक्षा की जाती थी। सेना में किसान लोगों को भरती इसलिए नहीं किया जाता था कि उनका कार्य भी सैनिकों के समान महत्वपूर्ण समझा जाता था।

खेतों की सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी। प्रत्येक किसान को उसकी आवश्यकतानुसार ही पानी दिया जाता था, और दिये गए पानी पर साधारण-सा कर भी वसूल किया जाता था। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त के समय में नहरें भी थीं। नहरों के होने का एक ऐतिहासिक प्रमाण और भी मिलता है।

चन्द्रगुप्त के साले पुष्यगुप्त ने जो काठियावाड़ का गवर्नर था, गिरनार नामक स्थान में, जो अरब समुद्र के निकट ही एक पहाड़ी पर स्थित है, 'सुदर्शन' नामक झील खुदवाई थी, जिसकी सहायता से किसानों को पानी प्राप्त होता था। इन नहरों का पुनर्निर्माण [illegible] समय तक [illegible] हुआ। और यह बात भी [illegible] [illegible]

[illegible] राजा का [illegible] और प्रजा द्वारा [illegible] मान लिया जाता था, फिर भी शासन के मामले में उनके साथ कोई न्याय

नहीं की जाती थी। अपराधी सिद्ध होने पर उन्हें भी साधारण नागरिक की भांति दण्ड भुगतना पड़ता था। अस्त्र-शस्त्रों के वनाने वाले, रथों और जहाजों के निर्माण करने वाले सरकारी कर्मचारी माने जाते थे और उन्हें साधारण नागरिकों के लिए अस्त्र वनाने या उनके अन्य कार्य करने की सख्त मनाही रहती थी। इसी प्रकार लुहार, वढ़ई तथा अन्य श्रमिकों पर राज्य का विशेप अनुशासन था।

सड़कों के वनाने और निगरानी के लिए राज्य की ओर से विशेष अधिकारी नियुक्त थे। प्रत्येक आधे कोस पर एक शिला थी, जिस पर अन्तर लिखे रहते थे। एक राजमार्ग भी वनाया गया था, जो पाटलिपुत्र से पेशावर तक गया था।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त के समय में भारत की सभ्यता उन्नतावस्था में थी। कला, सैन्य-वल, शासन-प्रवन्ध, धर्म, सदाचार सभी वातों में भारत उन दिनों संसार के किसी भी देश से वढ़ा-चढ़ा था। यद्यपि शिलाओं पर लेखन की प्रथा चन्द्रगुप्त के पोते अशोक ने ही आरम्भ की, फिर भी चन्द्रगुत के समय में ताड़ के पत्तों तथा कपड़ों पर लिखने की प्रथा प्रचलित थी। शिक्षा अनिवार्य थी।

चन्द्रगुप्त ने अपने वड़े साम्राज्य को कई प्रान्तों में विभाजित कर दिया था। प्रत्येक प्रान्त का एक शासक (अधिपति या राष्ट्रीय) था, जो राजा का प्रतिनिधि था, और जिसका ओहदा आज के राज्य-पाल के वरावर होता था। तक्षशिला, उज्जैन, कौशाम्वी, गिरनार, तोसली और स्वर्णगिरि नगर इन प्रांतों की राजधानियाँ थीं।

प्रान्त के गाँवों को 'ग्रामाणी' कहा जाता था। १०,२०,१०० और १०००, गाँवों के समूहों के अधिकारियों को क्रमशः दसी, विससो, शतसा और सहसा कहा जाता था। इन अधिकारियों के

मुख्य कार्य लगान वसूल करना तथा अपराधियों को दण्ड देना था। सारा लगान अन्त में जाकर राजा को मिलता था। जो ग्राम आबादी तथा उत्पादन में बढ़ जाता था, वह नगर (पुर या पट्टन) बन जाता था। प्रत्येक १० ग्रामों को एक 'पैठ' के रूप में काम करने की सुविधा थी, ताकि उनके निवासी वहां से अपने दैनिक व्यवहार की वस्तुएं खरीद सकें। ३०० या ४०० गांवों के ऊपर एक बड़ा कस्बा, जो प्रायः किसी नदी के मुख पर स्थित होता था, रहता था, उसे 'द्रोणमुख' कहते थे। नगरों, पुरों या पट्टनों का संचालन सीधे राजधानी से होता था।

प्रत्येक ग्राम या नगर की शासन-व्यवस्था आज के प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों के अनुसार होती थी। ग्रामों का शासन वहां की प्रमुख कुल, जाति, श्रेणी या [illegible] करती थी। राजा का कार्य यह देखते रहना था कि जनता की अपनी लोक-सभाओं द्वारा पास हुए कानून लागू हों और लोग उनका पालन करते रहें।

मेगस्थनीज के अनुसार उस समय के भारतीयों को कार्यों की दृष्टि से सात श्रेणियों में विभाजित किया जाता था : (१) विद्वान्—

पहुँचाना था । (७) अधिकारीगण—इनमें सेनाधिकारी, कोषाध्यक्ष, कृषि-अधिकारी, न्यायाधीश आदि सम्मिलित थे ।

मैगस्थनीज़ ने चन्द्रगुप्त के समय की शिक्षा-प्रणाली का वर्णन भी किया है। शिक्षक या तो ब्राह्मण होते थे अथवा श्रमण। शिष्य नगरों के बाहर स्थित आश्रमों में अपने गुरुओं के साथ २५ वर्ष ब्रह्मचर्य में व्यतीत करते थे। श्रमण अधिकाँश सन्यासी होते थे, जो जंगल के फल-मूलों पर जीवन-यापन करते थे। इनमें से कुछ चिकित्सक भी होते थे, जो स्वयं चिकित्सा करने के अतिरिक्त दूसरों को भी चिकित्सा करना सिखाते थे। 'प्रामाणिक' नाम के गुरु भी होते थे जो अपने शिष्यों को केवल तर्क-शास्त्र की शिक्षा देते थे, तथा स्वयं भी प्रत्येक बात और सिद्धान्त को केवल तर्क से ही जानने का प्रयत्न करते थे। ये लोग ब्राह्मणों की शिक्षा-प्रणाली तथा उनके सिद्धान्तों के विरोधी थे ।

नववर्षोत्सव पर ये सब विद्वान् राजधानी में एकत्रित होते थे, तथा राजा उनसे राज्य की दशा तथा शासन-व्यवस्था को सुधारने के सम्बन्ध में विचार करते थे ।

चन्द्रगुप्त अपनी नवयुवावस्था में ही गद्दी पर बैठ गये थे, और चूँकि इतिहास के लेखकों के अनुसार उन्होंने चौबीस वर्ष तक राज्य किया, इसलिए उनकी मृत्यु ४५ और ५० वर्ष के बीच में हुई होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इन चौबीस वर्षों में चन्द्रगुप्त ने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। भारत से यूनानी राज्य का अन्त करना, अरब-समुद्र से लेकर बंगाल की खाड़ी तक के भूमि-प्रदेश पर अपना अधिकार, एक विशाल सेना और साम्राज्य का जन्म, यह ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, जिनके कारण चन्द्रगुप्त का नाम इतिहास में सदैव के लिए अमर रहेगा ।

चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की धाक इतनी थी कि उसकी मृत्यु के बाद सदियों तक, देशी या विदेशी किसी भी राजा का यह साहस नहीं हो सका कि वह साम्राज्य के विरुद्ध उठने की कल्पना भी कर सके । शक्तिशाली यूनानियों तक ने, सैल्यूकस की हार के बाद, भारत पर आक्रमण करने के इरादे बदल दिये और भारत से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित रखने में ही अपना भला समझा ।

कुछ इतिहास-लेखकों का कहना है कि चन्द्रगुप्त को इतने बड़े साम्राज्य का स्वामी बनने का अवसर सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के कारण ही मिला । पर यह अनुमान गलत है । सिकन्दर ने उन्नीस महीने का जो समय भारत में बिताया, वह लड़ाइयों में ही बिताया, उसे किसी राज्य को स्थायी बनाने का समय ही नहीं मिला, और उसकी मृत्यु के बाद तो चन्द्रगुप्त ने एकदम उसके सब किये पर पानी फेर दिया था । साम्राज्य किस प्रकार स्थापित किया जाय, यह जानने के लिए चन्द्रगुप्त को सिकन्दर के उदाहरण की



: २ : अशोक

"संसार के इतिहास में हजारों विजेताओं और सम्राटों के नामों के बीच अशोक का नाम अलग एक सितारे की तरह चमकता है। वह पहला सम्राट् था जिसने अपनी प्रजा को जीवन का उद्देश्य और उसकी प्राप्ति के साधनों के विषय में शिक्षा दी। वह पहला विजेता राजा था जिसने जीत के बाद भी युद्ध को हानिकारक समझकर सदैव के लिए उससे मुँह मोड़ लिया था। अट्ठाईस वर्ष तक उसने बुद्धिमत्तापूर्वक और ईमानदारी के साथ प्रजा की वास्तविक सेवा के लिये प्रयत्न किया।"

यह है संसार-प्रसिद्ध लेखक एच० जी० वैल्स के अशोक के प्रति उद्‌गार जो उन्होंने अपनी 'संसार का इतिहास' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में प्रकट किये हैं।

भारत की अविचलित सांस्कृतिक इकाई पिछले कई हजार वर्षों से जीवित चली आ रही है। बीच में यद्यपि वह क्षीण और आवृत्त भी हो गई, परन्तु अपनी जीवनी-शक्ति उसने कभी नहीं त्यागी। सिकन्दर के भारत में आने के समय भारतीय संस्कृति के संकोच और ह्रास का काल भी आया, नई संस्कृति और नये लोगों के प्रवेश के कारण और विभिन्न संघर्षों के कारण भारतीय संस्कृति में अनेकानेक परिवर्तन भी हुए, मगर उसकी अन्तरात्मा ज्यों-की-त्यों रही। उस समय सम्राट् अशोक ने हमारी संस्कृति को उसके संकीर्ण क्षेत्र से निकालकर एक जीवित प्रभात के रूप में विश्व के सामने रखा।

भारतीय संस्कृति के मौलिक गुणों को अपने व्यक्तित्व में ग्रहण करके उन्होंने सम्राट् होते हुए भी ऐसा जीवन व्यतीत किया, जिसे प्रत्येक सुशिक्षित भारतीय अपने जीवन की सरिणी के रूप में देखता है। उन्होंने हमारी संस्कृति को विकास के ऐसे नये रूप प्रदान किये जो प्रसारात्मक और रचनात्मक दोनों थे।

विश्व-इतिहास के पाठक अशोक को एक ऐसे सम्राट् के रूप में जानते हैं जिसने अपने राज्य का संचालन विशुद्ध अहिंसात्मक प्रणाली से किया। आज की दुनिया में किसी भी राज्य का संचालन बिना फौज की सहायता के असम्भवप्राय है। २२०० वर्ष पूर्व भी यह असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य रहा होगा, क्योंकि अशोक के काल में भी भारत छोटी-छोटी रियासतों और प्रदेशों में बंटा हुआ था, जिनके शासकों को पराजित करके, अशोक के दादा चन्द्रगुप्त ने विशाल भारतीय-साम्राज्य की स्थापना की थी। ये शासक तलवार के जोर को ही मानते थे, किन्तु यह अशोक की अहिंसा की अपूर्व विजय थी कि उसमें युद्ध के प्रति घृणा रहने पर भी, किसी भी शासक ने उसके विरुद्ध विद्रोह का झंडा नहीं उठाया।

अशोक का लालन-पालन जिस कुल और वातावरण में हुआ, उसे देखते हुए बाद में उसके अहिंसक बन जाने की बात एक चमत्कार-सा लगती है। उसके दादा चन्द्रगुप्त ने वह कर दिखाया था जो यूनान का विजेता राजा सिकन्दर हिन्दुस्तान में आकर करना चाहता था। सिकन्दर चाहता था कि वह सारे भारत को जीतकर उसका एकछत्र सम्राट् बन जाए; परन्तु उसका यह स्वप्न पूरा नहीं हो सका। चन्द्रगुप्त ने अपने कौशल और वीरता से धीरे-धीरे देश के सब छोटे-बड़े राजाओं को परास्त करके सारे भारत को एक साम्राज्य का रूप दे दिया। चन्द्रगुप्त की सेना ब्रिटिश सेना से भी अधिक शक्तिशाली और बड़ी थी। उसके साम्राज्य का विस्तार मुगल-

साम्राज्य के विस्तार से कहीं अधिक था, और प्रायः इतना था जितना ब्रिटिश-भारत का था ।

चंद्रगुप्त एक वीर योद्धा ही नहीं था, वह एक कुशल-शासक भी था । उसने प्रजा को हर प्रकार से सुखी रखा । कुछ समय पूर्व पाटलिपुत्र के आस-पास खोज करके इतिहासज्ञों ने चंद्रगुप्त के समय की तीन इमारतों और वस्तुओं का पता लगाया है । उन्हें देखकर यूनानी राजदूत मैगस्थनीज़ द्वारा दिये गये पाटलिपुत्र के वैभव और सौन्दर्य के वर्णन को अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता । चंद्रगुप्त के समय में वास्तव में भारतीय-संस्कृति अपने विकास की चरमसीमा पर थी ।

चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पच्चीस वर्ष बाद अशोक को चन्द्रगुप्त की गद्दी पर बैठना पड़ा । इन पच्चीस वर्षों में भारत का सम्राट् अशोक का पिता बिन्दुसार था । बिन्दुसार के विषय में इतिहास द्वारा अधिक पता नहीं चलता, मगर चूंकि अशोक को चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित साम्राज्य ज्यों-का-त्यों मिला, इसलिए यह समझ लेना ठीक है कि बिन्दुसार भी चन्द्रगुप्त की ही भाँति कुशल शासक था ।

अशोक को इतने बड़े राजा का पुत्र होने के नाते ऊँची-से-ऊँची शिक्षा प्राप्त करने और हर प्रकार के सुख-साधनों के उपभोग करने के अवसर मिले । आरम्भ से ही अशोक को यह चेतना थी कि आगे चलकर नियति उससे बड़े कार्य कराने वाली है ।

अशोक जैसे राजकुमार को ऐसे मित्र और सलाहकार भी मिले, जो सदैव उसकी प्रशंसा करते रहकर अपनी स्वार्थसिद्धि करने की योजनायें बनाया करते थे । यदि अशोक ऐसे मित्रों और सलाहकारों के चंगुल में आ जाता, तो आगे चलकर वह अन्य राजाओं की भान्ति स्वार्थी और कठोर राजा ही होता । किन्तु अशोक ने कभी

ऐसे मित्रों का सहवास नहीं रखा, और हमेशा अपने को संवेदनशील और दयालु रखा।

अशोक के मन की गुप्त आकाँक्षायें क्या थीं, इसका कुछ आभास यह जानकर किया जा सकता है कि जब राजकुमार होने के नाते उन्हें किसी उपाधि देने का प्रश्न आया तो उन्होंने 'देवानाम् प्रियः' (देवताओं का प्रिय) की धार्मिक उपाधि अपने लिये चुनी। युवावस्था में भी, जब कुसंगति और अविवेक के कारण ऐश्वर्य में पले नवयुवकों का नैतिक-पतन प्रायः हो जाता है, अशोक ने अपने को सब कुप्रभावों से अक्षुण्ण रखा और हृदय की नैसर्गिक पवित्रता और उदारता को भी कभी न छोड़ा।

अपने पिता के शासनकाल में अशोक को उनके साम्राज्य के कई प्रान्तों का अधिपति बनने का अवसर प्राप्त हुआ। सर्वप्रथम वह सीमान्त प्रदेश के अधिपति बने। यह काश्मीर, पंजाब और सिन्ध के पश्चिम वाला प्रदेश था। उस समय तक्षशिला इस प्रदेश की एक राजधानी भी थी और हिंदू-संस्कृति का प्रधान केन्द्र भी। उसके बाद अशोक पश्चिमी प्रदेश के अधिपति बने। इस प्रदेश की राजधानी उज्जैन थी, जो भारत का सबसे पुराना नगर तथा शिक्षा का महान् केन्द्र माना जाता था। शिक्षा तथा संस्कृति के इन दो महान् केन्द्रों में युवावस्था के कई वर्ष व्यतीत करने का लाभ यह हुआ कि अशोक ने हिन्दू-धर्म और संस्कृति के सब सिद्धान्तों को सविस्तार समझा।

अशोक जब उज्जैन में थे, तब उन्हें अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला। उन्हें तुरन्त सम्राट् घोषित कर दिया गया। उज्जैन से पाटलिपुत्र तक एक शानदार जुलूस में अशोक को लाया गया, और पिता की मृत्यु के तीन वर्ष बाद वे राजसिंहासन पर बैठे।

अशोक के राज्यकाल के आरम्भिक वर्षों का कोई वर्णन उपलब्ध नहीं है, परन्तु चूंकि इस अवधि में चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित

साम्राज्य के विस्तार में कमी आ जाने के कोई समाचार नहीं मिलते, इसलिये यह मान लिया जा सकता है कि अशोक ने साम्राज्य की प्रतिष्ठा के सूर्य को ग्रहण नहीं लगने दिया।

बीस वर्ष की आयु में अशोक को गद्दी पर बैठने का अवसर मिला। गद्दी पर बैठने के ग्यारह वर्ष बाद तक उन्होंने अपने पिता और दादा की भान्ति ही राज्य किया और साम्राज्य को उसी प्रकार जमाये रखा। इसके बाद अशोक के जीवन में एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना घटी, जिसने उनके समस्त जीवन को एक नये रंग में रंग दिया।

यह घटना कलिंग का युद्ध थी।

कलिंग अशोक के साम्राज्य के दक्षिण की ओर स्थित एक प्रान्त था। आजकल यह प्रदेश विजगापट्टम और गंजम के जिलों की भूमि है। अशोक की इच्छा थी कि इस प्रान्त को जीतकर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया जाए।

कलिंग जीत तो लिया गया, परन्तु उसके कारण जो रक्तपात हुआ और बर्बादी हुई, उसने अशोक के भावुक-हृदय में एक अद्भुत क्रान्ति पैदा कर दी। अशोक को अपना हृदय-मन्थन करने के लिये विवश होना पड़ा। इस विजय के बाद उसके मन में जो अन्तर्द्वन्द्व हुआ होगा, उसका आभास, उनके द्वारा निर्मित एक शिलालेख की इन पंक्तियों से होता है :

"सिंहासनारूढ़ होने के ग्यारह वर्ष बाद महामान्य सम्राट् अशोक ने कलिंग प्रदेश पर विजय प्राप्त की। इस युद्ध में डेढ़ लाख व्यक्ति कैदी बने, एक लाख मारे गये, और कई लाख बेघर तथा तबाह हो गए।

"कलिंग की विजय के बाद सम्राट् के मन में कलिंग की प्रजा के साथ धर्मयुक्त व्यवहार करने के विचार जाग्रत हुए। इन विचारों के साथ-ही-साथ सम्राट् के मन में दूसरे विचार भी आए और उन्हें

भी प्राणी के साथ अप्रेमपूर्ण व्यवहार नहीं करेंगे, और किसी भी अवस्था यें हिंसा का आश्रय नहीं लेंगे। इस निश्चय ने उनकी आन्तरिक दृष्टि को एकदम पैनी और स्वच्छ वना दिया, और अशोक को लगा कि जैसे इस निश्चय के वाद उन्होंने स्वयं पर एक भारी विजय प्राप्त कर ली है। उनके मन की सारी अशान्ति सहसा न जाने कहाँ विलीन हो गई, और उन्हें जीवन-पर्यन्त एक ऐसी शान्ति का अनुभव होता रहा जो अनिर्वचनीय है।

परन्तु यह समझना भूल होगी कि अशोक को इस निश्चय को कायम रखने में किन्हीं बाधाओं और कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा। अहिंसा और शान्ति के विरुद्ध लोग जितने आज हैं, उतने ही उस समय में भी थे। स्वयं उनका मन्त्रिमण्डल इस बात के विरुद्ध था कि अहिंसा के आदर्शवाद के लिये इतनी बड़ी सेना को भंग कर दिया जाये। उनकी प्रजा में भी ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं थी जो समझते थे कि राजा को अनुदार, कठोर और युद्ध-प्रवीण ही होना चाहिए। सेना की संख्या में कमी करने के विषय में तो उनके प्रियजनों की भी यही राय थी कि यह कमी वहुत कम होनी चाहिए।

अशोक ने जान लिया कि अहिंसा और प्रेम के मार्ग को अपनाकर वह लोकप्रिय सम्राट् नहीं वना रह सकता, परन्तु उन्हें ऐसी थोथी लोकप्रियता की परवाह नहीं थी, उन्हें अपने नये मार्ग की सत्यता में कोई सन्देह नहीं था, और वह जानते थे कि इसी राह से उनका तथा लोगों का कल्याण होने वाला है।

अहिंसा की खातिर वह अपने साम्राज्य और जीवन की भी बलि देने में नहीं हिचकिचाते थे! वह जानते थे कि जीवन और साम्राज्य को खोकर भी वह अपनी अमूल्य निधि—आत्मा—को वचाने में सफल हो सकेंगे।

यद्यपि बौद्ध-धर्म का प्रभाव देश में बढ़ता जा रहा था, फिर भी देश में उसके अनुयायियों की अपेक्षा उसके विरोधियों की संख्या ही अधिक थी। ऐसी अवस्था में अशोक का प्रजा के बहुमत के विरोध की परवाह न करके बौद्ध-धर्म स्वीकार करना निश्चय ही बड़े साहस का कार्य था। परन्तु अशोक की निर्भयता का प्रभाव यह हुआ कि धीरे-धीरे उनके कट्टर विरोधी भी उनके सच्चे अनुयायी और भक्त बन गये।

उस काल के सिद्ध भिक्षु उपगुप्त से बौद्धधर्म की शिक्षा-दीक्षा लेकर अशोक भी एक बौद्ध भिक्षु बन गये और एक सम्राट् होते हुए भी साधारण भिक्षु की भान्ति जीवन व्यतीत करने लगे।

कलिंग युद्ध के दुःखद अनुभव के बाद उन्होंने जान लिया था कि युद्ध, घृणा ही का दूसरा रूप है, और अब उनके हृदय में किसी के लिये भी घृणा नहीं थी, प्रेम था। घृणा और हिंसा के अनैतिक प्रभाव से बचने के लिये ही वह बौद्ध बने थे, क्योंकि उन्हें दीखता था कि बौद्ध बनकर ही वह स्वयं अपने और अपनी प्रजा के जीवन को आशा और सात्विक सौन्दर्य से पूर्ण बना सकेंगे।

अपने चारों ओर की दुनिया उन्हें ग़लत दीखने लगी, उन्हें मालूम होने लगा कि दुनिया के लोगों के आदर्श ऊंचे नहीं हैं, उन्होंने भौतिक सुख को ही परम सुख मान रखा है। इसी कारण वे प्रायः दुखी रहते हैं। परन्तु अशोक को, नयी दृष्टि प्राप्त हो जाने के बाद, लोगों का यह बाहर से सुखी और समृद्धिशाली लगने वाला जीवन, जो प्रायः आन्तरिक सुख और सन्तोष से शून्य रहता था, व्यर्थ लगने लगा। उनकी इच्छा हुई कि वह जाकर अपनी प्रजा को बतलायें कि जीवन को वास्तव में सुखी और मुक्त कैसे बनाया जा सकता है। और यह भी कि प्रेम, घृणा से कहीं अधिक शक्तिशाली है, अहिंसा ही जीवन का नियम होना चाहिये, हिंसा नहीं।

यद्यपि प्रजा में अशोक के आदर्शवाद और उनकी अहिंसा के सिद्धान्तों के विरोधियों की संख्या कम नहीं थी, फिर भी कुछ समय बाद साधारण नागरिकों ने अशोक के सीधे और सच्चे सिद्धान्तों को समझ लिया और वे उनकी शिक्षाओं का पालन करने लगे। लोगों का युद्ध और हिंसा के विरुद्ध होने का कारण यह भी था कि अशोक के राज्य में प्रजा सुखी थी, आर्थिक संकट नहीं था, लोग शिक्षित, कलाप्रेमी और धर्मभीरु थे। ऐसे लोग स्वयं कभी युद्ध के लिये प्रोत्साहित नहीं होते; साधारणतया उनको युद्ध में शामिल होना पड़ता है, अपने राजा की राज्य-विस्तार की भूल के कारण।

बौद्ध होने के बाद अशोक ने अपने लिये, अपने अधीन अधिकारियों और प्रजा के लिए नए नियम बनाये। इन नियमों में एक नियम यह था कि राज्य प्रजा के लिये है, प्रजा राज्य के लिये नहीं। बेशक राजा को अपने राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था रखने का अधिकार है, परन्तु उसे इस अधिकार का प्रयोग उचित अवसरों पर ही, विवेकपूर्वक करना चाहिये। राजा का धर्म है कि वह ग़रीब से ग़रीब के सुख और अधिकारों का भी उतना ही ध्यान रखे जितना कि वह अमीर और सत्ताधारियों के सुख और अधिकारों का रखता है। नगरों में रहने वालों की अपेक्षा, अशोक का ध्यान अपने उन प्रजाजनों पर और अधिक रहता था, जो छोटे-छोटे गाँवों या जंगलों में रहते थे। अशोक से पहले राजा इन पिछड़ी जातियों के साथ पशुओं जैसा व्यवहार करते थे, परन्तु अशोक का व्यवहार उनके साथ ऐसा था, जैसा कि पिता का पुत्र के साथ होता है।

अशोक ने अहिंसक होते ही सारे राज्य में पशुओं की हत्या न

करने की आज्ञा घोषित कर दी थी। बीमार पशुओं की चिकित्सा के लिये अनेकों अस्पताल भी उन्होंने खुलवाये। उन दिनों पशु-बलि एक धार्मिक कृत्य माना जाता था इसलिए कट्टरपन्थियों ने पहले इस आज्ञा का बहुत विरोध किया परन्तु विरोध और आलोचनाओं के रहने पर भी अशोक ने अपनी आज्ञा वापस नहीं ली।

बौद्ध-धर्म में पूरी आस्था रखते हुए भी अशोक अन्य धर्मों के प्रति उदार और सहिष्णु थे। उनके राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म को मानते रहने का पूरा अधिकार था।

अट्ठाइस वर्ष तक अशोक ने न केवल विशाल साम्राज्य पर शान्तिपूर्वक राज्य किया, बल्कि प्रजा के साथ उनका व्यवहार इतना मानविक और सहृदयतापूर्वक हो गया था कि प्रजा उन्हें पितातुल्य मानने लगी थी। अपने राज्य के प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख में भाग लेने के लिये वह सदैव तत्पर रहते थे। छोटा-बड़ा, गरीब-अमीर, स्त्री-पुरुष, कोई भी, किसी समय निःसंकोच उनके पास अपनी प्रार्थना लेकर पहुँच सकता था और वह हर प्रार्थना को बड़े ध्यान से सुनते थे और तत्काल ही प्रार्थी को उचित सन्तोष देने का आयोजन कर दिया जाता था।

कुशल शासक होने के साथ अशोक ऊंचे दर्जे के कला-पारखी भी थे। उन्होंने जो इमारतें बनवाईं, उनके ध्वंसावशेषों को ही देखकर उनकी कलाप्रियता का अनुमान सहज में लगाया जा सकता है। इमारतों में पत्थर का प्रयोग करवाने वाले वह पहले भारतीय सम्राट् थे और यह बात ध्यान में रखते हुए भी कि पत्थर की इमारतें उन्होंने ही सबसे पहले निर्मित कराईं उन इमारतों का सौन्दर्य और उनकी सम्पूर्णता आज भी अनुपमेय है। सारनाथ के स्तूप इस कथन का एक प्रमाण हैं। एक प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहास-लेखक के अनु-

सार "शैली और रचना दोनों दृष्टियों से अशोक द्वारा निर्मित स्तूप और शिलायें कला और शिल्पकारी का उत्तम नमूना हैं। संसार के इतिहास में इस ढंग की जितनी पुरानी इमारतों का वर्णन है, उनमें अशोक द्वारा निर्मिन इमारतें निःसन्देह सर्वश्रेष्ठ हैं।" दुर्भाग्य से अशोक द्वारा बनवाये गये अधिकाँश महल और दुर्ग अब ढह चुके हैं, केवल कुछ स्तूप और शिलायें ही शेष हैं।

अपने राज्य के अनेक स्थानों पर अशोक ने शिलास्तम्भ निर्मित कराये थे, जिन पर उसने अपने और अपने साम्राज्य के विषय में थोड़ा उल्लेख करने के अतिरिक्त वे नियम भी अंकित कराए हैं, जो उन्होंने प्रजाजनों के लिये बनाये थे। मामूली पत्थरों को किस प्रकार इतना अधिक चमकाया गया था कि उनकी चमक दो हजार साल बाद भी शेष है, यह भेद आधुनिक इंजिनियर अभी तक नहीं जान सके हैं। यह शिलालेख अशोक के सर्वश्रेष्ठ स्मृतिचिन्ह हैं और इनको पढ़कर उनके राज्य-शासन, राज्य-विस्तार आदि बातों का पता लगने के साथ यह भी पता चलता है कि अशोक कितने विशालहृदय वाले सम्राट् थे। अब तक ऐसी ३० शिलाओं का पता चल सका है। हमारी वर्तमान सरकार ने अशोक-चक्र, अशोक-शिल्प और सिंह-मुख का सरकारी चिन्ह इन्हीं शिलाओं से लिया है।

इस व्यक्तिगत प्रयत्न के अतिरिक्त बौद्ध-धर्म के प्रसार में अशोक का बड़ा हाथ रहा था। बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये उन्होंने दक्षिणी एशिया, पूर्वी यूरोप और उत्तरी अफ्रीका के प्रदेशों में अपने प्रतिनिधि भेजे। स्याम, लंका, तिब्बत, चीन, जापान और बर्मा में बौद्ध-धर्म के प्रचार का मुख्य श्रेय अशोक को ही मिलना चाहिये। स्वयं उन्होंने देश भर में २५६ बार दौरा करके बौद्ध धर्म

का प्रचार किया। इस अदम्य उत्साह का ही यह प्रभाव था कि अशोक के वाद कट्टर हिन्दुओं के तीव्र विरोध के रहने पर भी, एक हजार वर्ष तक वौद्ध-धर्म का झण्डा भारत तथा अन्य देशों में गड़ा रहा।

वौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये अशोक ने अपने छोटे भाई महेन्द्र और वहिन संघमित्रा को लंका, दक्षिण भारत, हिमालय प्रदेश, ब्रह्मा और काश्मीर भेजा। आज इन प्रदेशों में वौद्ध-धर्म का जो वृहद् प्रचार देखने में आता है, उसकी नींव अशोक ने ही रखी थी। यह अशोक के ही प्रयत्नों का फल था कि भारत के एक छोटे भाग में माना जाने वाला वौद्ध-धर्म कुछ ही वर्षों में तिहाई विश्व में फैल गया, और आज संसार के वड़े धर्मों में से एक है।

लंका का राजा तिस्सा अशोक का मित्र था, तथा उनके विचारों का आदर करता था। इसलिये लंका मे वौद्ध-धर्म का प्रसार होने म कठिनाई नही हुई। लंका-नरेश को अशोक के प्रचारकों ने वुद्ध-गया के पवित्र वोधि-वृक्ष की एक शाखा प्रदान की। भगवान् वुद्ध को इसी वृक्ष के नीचे आत्मसाक्षात्कार हुआ था।

अशोक ने स्वयं अपने साम्राज्य में वौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये सैकडों की सख्या में विशेषाधिकारी नियुक्त किये। इन अधिकारियों का कार्य प्रजा के निर्वल, रंक और असहाय जनों को हर प्रकार की सहायता पहुँचाना था। एक राज्यादेश मे अशोक ने कहा : "मेरे सव अधिकारियों की नियुक्ति इसलिये हुई कि वे प्रजा पर शासन करने के साथ-साथ अपराधों तथा कुकर्म की देखभाल करें, तथा अपराधियों को दण्ड दें, ताकि धर्मभीरु प्रजा सुख व शान्ति के वातावरण में रह सके। अधिकारी प्रजा के सुख तथा सुरक्षा के लिये उत्तरदायी है। वे हमेशा प्रजा को ऐसे मार्ग दिखाते रहेंगे, जिन पर चलकर प्रजा का इहलोक और परलोक दोनों सुधरें। सभी अधिकारी स्वयं भी इन आदर्शों

पर चलने का प्रयत्न करते रहेंगे।"

क्रमशः अशोक ने अपने महल और दरबार की रूपरेखा साधारण कर दी, ऐश्वर्य तथा विलास की सब वस्तुएं हटा दी गईं।

एक किम्वदन्ती के अनुसार अशोक ने ऐसे ८०,००० स्तूपों का निर्माण कराया। इन स्तूपों के अतिरिक्त अनेक नगरों, भवनों, सड़कों, तथा कूओं आदि का निर्माण अलग से कराया। इनमें से बखीरा, नवनगढ़ और साँची के स्तूप सर्वाधिक विख्यात हैं। इन स्तूपों पर हुए खुदाई के कार्य में एक कलात्मक संगति तथा उच्चता है।

इन स्तूपों के निर्माण का ध्येय कुछ ऐसे उदार और व्यापक सिद्धान्तों का प्रचार था, जो संसार के सभी धर्मों के आवश्यक अंग हैं। अशोक का किसी देवता-विशेष की पूजा या पूजा की किसी विशेष विधि पर जोर न देकर प्रत्येक धर्म के मूलतत्वों के प्रचार पर ही जोर देना, उनके निष्कपट धार्मिक प्रेम का परिचायक है।

प्रसिद्ध लेखक री डेविस के मतानुसार अशोक इन आदर्शों का प्रचार और प्रतिपादन कराना चाहते थे।

१. पशु-बलि किसी हालत में न हो।

२. ऊँची जगहों के जातीय-भोज, जो एकमात्र प्रदर्शन के लिये होते हैं, वन्द हों।

३. माता-पिता की आज्ञा का पालन अच्छा है।

४. ब्राह्मणों, शरणागतों, मित्रों तथा परिजनों से प्रेमपूर्ण व्यवहार आवश्यक है।

५. किसी भी प्राणी को कोई दुःख न पहुँचाना अच्छा है।

६. कम खर्च रहना तथा वादविवादों से दूर रहना अच्छा है।

७. आत्मसंयमी रहना, अंतःकरण की स्वच्छता रखना तथा विनम्र रहना उन लोगों के लिये भी सम्भव है, जो गरीब हैं, और

दूसरों को दान नहीं दे सकते।

८. पूजा और उत्सव अधिकतर रोग, विवाह, जन्म या यात्रा के अवसरों पर किये जाते हैं। ये उत्सव व्यर्थ हैं। शुभ उत्सव केवल एक है और वह सदैव किया जा सकता है। वह है नियमों के पालन का उत्सव। अपने नौकरों से उचित व्यवहार करना, गुरुओं का आदर करना, भौतिक सुख के उपभोग में संयम रखना, तथा ब्राह्मणों और शरणागतों के प्रति विनम्र और उदार रहना, ये वे कुछ नियम हैं। इसलिये प्रत्येक पिता, भाई और गुरु को अपने छोटों को इन नियमों का पाठ सिखाना चाहिये। इन नियमों के पालन से सबका स्थायी भला होगा। दान करना अच्छी बात है, पर इन नियमों के ज्ञानदान से बढ़कर कुछ अच्छा नहीं है।

९. सहिष्णुता : प्रत्येक जन का, चाहे वह विधर्मी अथवा शरणागत ही क्यों न हो, समान आदर करना चाहिये। वाणी में संयम रखना ठीक है। प्रत्येक को यह अधिकार देना चाहिये कि कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार ही उस मूलतत्व को जाने जो सब में है, सब कहीं है।

१०. सबको अपने अच्छे कामों के साथ-साथ अपने बुरे कामों के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिये। इस प्रकार का आत्म-निरीक्षण निःसन्देह एक कठिन कार्य है, परन्तु फिर भी सबको सदैव यह सोचते रहना चाहिये कि जिस कार्य को करने से क्रोध, अहंकार अथवा निर्दयता आदि को जन्म अथवा उत्तेजना मिले, उनका बहिष्कार होना आवश्यक है। ऐसा करने से ही इहलोक और परलोक में भला होगा, अन्यथा नहीं।

ईसा के जन्म से २४९ वर्ष पूर्व अशोक ने अपने साम्राज्य के पवित्र स्थानों का भ्रमण आरम्भ किया। पाटलिपुत्र से हिमांचल प्रदेश तक की एक यात्रा मुजफ्फरपुर और चम्पारन के मार्ग से हुई

थी और उस यात्रा के स्मृतिस्वरूप उन्होंने पाँच विशाल स्तूपों का निर्माण कराया। वहाँ से पश्चिम की ओर आकर अशोक ने एक प्रसिद्ध बाग में, जहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था, एक अन्य विशाल स्तूप स्थापित कराया। वहाँ से उनके पथ-प्रदर्शक उपगुप्त उन्हें प्रथम वार कपिलवस्तु ले गये, जहाँ वुद्ध ने अपना बाल्यकाल व्यतीत किया था, पश्चात् सारनाथ, और गया की यात्रा की जहाँ भगवान् ने उपदेश दिये थे और जहाँ उन्हें आत्मज्ञान हुआ था। अन्त में वे कुशीनगर आये, जहाँ भगवान् बुद्ध ने प्राणत्याग किया था। इन सब स्थानों में अशोक ने स्तूपों का निर्माण कराया तथा बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये बिहार-संस्थाएं और पाठशालाएं खुलवाईं।

इस यात्रा के दो साल बाद अशोक ने पुनः भिक्षुओं के पीतवस्त्र धारण किये, और राज्य-संचालन करते हुए भी विरक्त का-सा जीवन व्यतीत करने लगे। पहली वार पीतवस्त्र धारण करने के समय वह बुद्ध के एक साधारण अनुयायी-मात्र थे, पर इस बार वे उन परम शिष्यों की श्रेणी में आ चुके थे, जो निर्वाण-प्राप्ति के लिये संसार से विरक्ति का जीवन व्यतीत करते हैं। राज्य-संचालन का अधिकांश भार उनके पुत्र तथा मन्त्रियों पर था, पर मुख्यादेश वही देते थे। पीतवस्त्रधारी सम्राट् द्वारा इतने वड़े साम्राज्य के संचालन की कल्पना ही मन में एक अपूर्व विमुग्धता ला देती है।

उनके जीवन के अन्तिम आठ वर्षों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इतिहास-लेखकों को केवल इतना ज्ञात है कि ईसा के जन्म से २३२ वर्ष पूर्व उनका देहान्त हुआ। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके दो पोते दशरथ और सम्प्रति गद्दी पर वैठे। दशरथ साम्राज्य के पूर्व भाग का शासक वना और सम्प्रति पश्चिमी भाग का।

अशोक ने एक अति महान् और अति दीर्घ कार्य अपने हाथ में

लिया था । यदि वह कार्य पूर्णरूपेण सफल न हो सका, तो इसके लिये दोषी उन्हें नही ठहराया जा सकता। क्योंकि जिन आदर्शो पर जिस प्रकार चलने की सीख उन्होंने अपनी प्रजा को दी, उन्ही आदर्शो पर उसी प्रकार चलने का कठिन कार्य भी उन्होंने सतत रूप से किया।



: ३ : शिवाजी

'उच्च जीवन क्या है ?' इस प्रश्न के उत्तर में एक महान् लेखक ने लिखा है कि उच्च-जीवन एक उच्च विचार का, जो युवावस्था में जन्म लेता है, जीवन के शेष वर्षों में कार्यरूप में परिणत करने के प्रयत्न का दूसरा नाम है।

इस दृष्टि से देखा जाए तो शिवाजी का जीवन उच्च जीवन था, और शिवाजी एक महान् व्यक्ति थे, मामूली लुटेरे योद्धा नहीं, जैसा कि कई संकुचित विचारों वाले इतिहास-लेखकों का विचार है।

अपनी नवयुवावस्था में अपनी जाति की दुर्दशा देखकर शिवा जी ने निश्चय किया था कि बड़े होकर वह अपनी जाति को परतंत्रता के चंगुल से छुड़ाकर स्वाधीन और उसे एक सम्मानपूर्ण जीवन बिताने का अवसर देंगे। जीवन के अन्त तक उन्होंने अपने इस स्वप्न को काफी सीमा तक सच्चा कर दिखाया। महाराष्ट्र के हिन्दुओं को उन्होंने मुसलमानी दासता से छुड़ाकर स्वयं अपने पैरों पर खड़े होकर बढ़ने के लिये मुक्त कर दिया। शिवाजी से पहले महाराष्ट्र के निवासयिों में एकता की भावना नहीं थी, शिवाजी ने उन्हें एक झण्डे के नीचे एकत्रित करके स्वदेशाभिमान और जाति-अभिमान का संजीवनमंत्र उनमें फूंका।

यह सच है कि शिवाजी द्वारा स्थापित राज्य उनकी मृत्यु के नौ-दस वर्ष बाद ही छिन्न-भिन्न हो गया। इसका कारण उनके पुत्र सम्भाजी की मूर्खता और निर्बलता थी। परन्तु जो नींव उन्होंने तैयार

की, उसी पर आगे चलकर पेशवाओं का साम्राज्य आधारित हुआ। यदि शिवाजी महाराष्ट्र का जबर्दस्त संगठन न कर जाते तो पेशवा लोग एक सौ वर्ष तक भारत पर राज्य करने में कभी सफल न होते।

शिवाजी का जन्म १० अप्रैल, १६२७ ई० को हुआ था। उनके पिता शाहजी भोंसले चित्तौड़ के राजा लक्ष्मणसिंह के पोते सजनसिंह के वंश के थे। 'भोंसले' कुल के नाम का जन्म उदयपुर के भोसावात वंश से हुआ था। उदयपुर से आकर सजनसिंह तथा उसके वंशज अहमदनगर के राजा की सेना में भरती हो गये। शिवाजी के परबाबा दौलताबाद के निकट वंसल गाँव के पाटिल थे। उनके वंश का अभ्युदय काल उनके दो लड़कों, मालोजी और विटोजी के समय में हुआ। कहा जाता है कि एक बार देवी पार्वती ने उनसे स्वप्न में कहा कि उनके घर में गुप्तधन छिपा है। उन दोनों ने उस गुप्तधन को ढूंढ़ निकाला और उसकी सहायता से एक छोटी सेना खड़ी की। इस सेना को उन्होंने फल्टन के तत्कालीन शासक के पूर्वज जगपतराव निम्बालकर के सुपुर्द कर दिया। बाद में मालोजी ने निम्बालकर की बहन दीपाबाई से विवाह किया। एक मुस्लिम सन्त शाह शरीफ जी की अनुकम्पा से उन्हें १५९४ ई० में एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम उन्होंने सन्त के नाम पर शाहजी भोंसले रखा।

जब शाहजी दस वर्ष के थे, तब मालोजी की इच्छा हुई कि उसका विवाह अहमदनगर के प्रमुख सरदार लाखोजी जाधवराव की कन्या जीजाबाई से कर दिया जाये। लाखोजी देवगिरि के यादव राजाओं के वंश का सरदार था। एक बार होली के दिन जीजाबाई तथा शाहजी को साथ खेलते देखकर लाखोजी ने स्वयं मालोजी से दोनों का विवाह करने की कामना प्रकट की। पहले इस विवाह के लिये लाखोजी की पत्नी ने बहुत विरोध किया, पर अन्त में

यह विवाह सम्पन्न हो ही गया।

१६२३ ई० में जीजाबाई के शम्भाजी नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके बाद शाहजी अहमदनगर के राजा की ओर से मुगलों से लडने में इतना व्यस्त रहा कि उसे घर जाने के अवसर ही कम मिलते थे। एक रात, ऐसा कहा जाता है कि उसे स्वप्न में एक साधु आम लिये दिखाई दिया। साधु ने आम उसे देकर कहा "जाओ यह आम तुम और तुम्हारी पत्नी खा लो। कुछ समय बाद तुम ऐसे पुत्र के पिता बनोगे जो स्वयं भगवान् शिव का अवतारस्वरूप होगा।" जब शाहजी का स्वप्न टूटा तो उसने देखा कि हाथ में वास्तव में एक आम था। यह आम उसने स्वयं भी खाया तथा अपनी पत्नी को भी दिया। कुछ समय बाद जीजाबाई को एक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। शाहजी ने उसका नाम भगवान शिव के नाम के आधार पर शिवाजी रखा।

१६३२ ई० में शाहजी के एक शत्रु मल्दहारखान ने अहमदनगर पर हमला कर शाहजी की पत्नी को कोन्डाना (वर्तमान सिंहगढ) के किले में कैद कर लिया। कुछ नौकरों की चतुराई से शाहजी कैद होने से बच गये। जब अहमदनगर के विभाजन के पश्चात् दिल्ली और बीजापुर में सन्धि हुई तब जीजाबाई को मुक्ति मिली। परन्तु इस बीच शाहजी ने बीजापुर रियासत में नौकरी कर ली थी और मोहिते परिवार की तुकाबाई नामक एक लड़की से विवाह भी कर लिया था। इस घटना के बाद जीजाबाई और शाहजी के सम्बन्ध स्नेहपूर्ण न रहे।

१६३७ ई० में शिवाजी की आयु १० वर्ष की थी, जीजाबाई ने उनका विवाह बीजापुर में विठोजी तेवसकर की पुत्री साईबाई से कर दिया।

अपने जन्मकाल से ही शिवाजी को मुगलों से तीव्र घृणा हो

कहानियों के स्थान पर पराक्रमी और तेजस्वी राजकुमारों और राजाओं, भरत, राम, कृष्ण, अर्जुन आदि की कहानियाँ सुनाईं। इन कहानियों को सुन-सुनकर बालक शिवाजी के मन में भी इन कहानियों के नायकों के समान यशस्वी बनने की प्रबल आकांक्षा होती थी। शिवाजी को महान् पुरुष बनाने में उनकी माँ जीजाबाई ने बहुत योग दिया और शिवाजी की सफलता का बड़ा श्रेय उन्हें मिलना चाहिये।

माँ से स्फूर्तिदायक आख्यानों को सुनते-सुनते ऐसी कहानियों को सुनने का शौक शिवाजी में इतना बढ़ गया कि बड़े होकर भी अपने प्रिय कवि भूषण से ऐसी कथायें सुनते थे। भूषण भी शिवाजी के विषय में जोशीली कवितायें लिखकर अमर हो गये। एक बार जब भूषण कवि शत्रुओं के हाथ में पड़ गये थे, शिवाजी केवल उनकी कविता सुनने के लिये छद्मवेश धारण करके शत्रु के दरबार में पहुँचे थे।

जिस घर में शिवाजी का जन्म हुआ था वह पूना के किले के पास की एक पहाड़ी पर था। यहाँ से बालक शिवाजी अपने प्रान्त के वन-सौन्दर्य को निहारता-निहारता उन छोटे-छोटे युद्धों के बारे में भी सोचता रहता था, जो हर तीन-चार महीने बाद उसके आस-पास के प्रदेशों में चलते रहते थे और जिनमें भाग लेने के लिए उसके आस-पास के गाँववालों को जबर्दस्ती जाना पड़ता था। कभी-कभी उन गाँव वालों में से कोई भी नहीं लौटता था और कभी-कभी जब वे जीतकर भी आ जाते थे, तो कुछ महीने बाद शत्रु लोग आकर उन्हें उनके ही घरों में बन्दी कर लेते थे और उनके घरों को लूटकर उनमें आग लगा देते थे।

उस समय की दक्षिण की छोटी-छोटी मुसलमानी रियासतें हमेशा

मुगलों के विरुद्ध लड़ती रहती थीं । औरंगजेब के कारनामों से उस ,सम य के हिन्दू और मुसलमान दोनों ही तंग आ चुके थे । वे उससे मुक्त होना चाहते थे। इस युद्ध में कभी मुगल विजयी हो जाते और कभी दक्षिणी रियासतें । वास्तव में जिस दल को हिन्दुओं की सहायता मिल जाती, वही जीतता था । इसलिये दोनों दल हिन्दुओं को अपनी ओर करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे ।

हिन्दुओं की संख्या अपार थी, और वे सस्ते में प्राप्त भी हो जाते थे । परन्तु विजय के पश्चात् विजेता दल उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता था और उन्हें पुरस्कृत करने के स्थान पर उल्टा दवाने का प्रयत्न करता था। असंगठित, दरिद्र और अज्ञानी होने के कारण हिन्दू कुछ न कर पाते ।

शिवाजी अपने जातिवन्धुओं की इस दैनिक दुर्दशा को देखते और उनका मन विंधकर रह जाता । जव वह कुछ वड़े हुए, तो उन्होंने इन गाँव वालों से मित्रता वढ़ानी आरम्भ की और उनके साथ रहकर तीर-तलवार चलाना, आक्रमण करना, रक्षा करना, आदि युद्ध की सव कलायें और दाव-पेंच सीख लिये । साथ ही उन्होंने पूना के आस-पास की सव पहाड़ियों और घाटों के ज्ञात-अज्ञात रास्ते भी मालूम कर लिये ।

उन्होंने देखा कि मराठे बिखरे रहकर अपनी शक्तियों का अपव्यय कर रहे हैं, यदि कोई नेता उन्हें संगठित कर सके, तो वह एक शक्तिशाली सेना तैयार कर सकता है । मराठे स्वभाव से निर्भय, शूर और चतुर होते हैं, मगर उनमें कमी थी, अनुशासन और संगठन की । शिवाजी ने उन्हें संगठित करने का दुष्कर कार्य अपने जिम्मे लिया ।

गया। रात-दिन उन्हें यही चिन्ता रहती कि अपने साथियों को किस प्रकार एक ऐसे सूत्र में बाँधा जाए जिससे वे कभी अलग न हो सकें, और जिसमें बँधे रहकर वह अपनी मातृ-भूमि को स्वतंत्र-करते जायें। अब तक माँ से जिन नेताओं की कहानियाँ उसने सुनी थीं, ऐसा ही एक नेता बनने की ज्वलन्त इच्छा नवयुवक शिवाजी के मन में जाग्रत होकर दिन-प्रति-दिन अधिक ज्वलन्त होती चली गई।

उस समय नवयुवक शिवाजी के सामने यह प्रश्न नही था कि वह अशिक्षित हैं और आगे चलकर उसे शिक्षित और अनुभवी सरकारों से मोर्चा लेना होगा, न ही शिवाजी के पास यह सोचने का समय था कि वह एक गरीब परिवार में पैदा हुआ है और उसकी आकृति नेताओं जैसी प्रभावशाली नहीं है। शायद उसने यह भी नहीं सोचा होगा कि मुट्ठी-भर साथियों का सामूहिक शारीरिक-बल और शस्त्र-चतुराई उस महान् उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकेंगे जो उसके सामने था, उस उद्देश्य-प्राप्ति के लिये धन तथा अन्य साधनों की भी आवश्यकता है।

इन सब कमियों के बावजूद भी नवयुवक शिवाजी में ऐसे कौन से गुण थे; जिनके कारण उनको अपने कठिन उद्देश्य की पूर्ति के लिये सतत सहायता और सहयोग मिलता रहा और जिनके कारण उन्हें निराशा या असफलता का सामना नहीं करना पड़ा।

ये गुण थे—उनकी दिलेरी, उनका देशप्रेम और उनकी युद्ध-कुशलता।

देखने में शिवाजी एक दुर्बल पुरुष दीखते थे, परन्तु उनके अवयव वर्षों के कठिन-युद्धाभ्यास और कठिन-जीवन से सुदृढ़ बन गये थे। दरिद्रता ने उन्हें भूख, प्यास और मौसम की तीव्रता को सहन करना सिखा दिया था। घुड़सवार वह इतने अच्छे थे और अपने

लाके की सब पहाड़ियों के मार्गों का ज्ञान उनका इतना सही था कि
ात्रुओं द्वारा उन्हें दी गई उपाधि 'पहाड़ी चूहा' एक प्रकार से ठीक
ी थी ।

किसी शाला में शिक्षा न पाकर भी माँ के मुँह से युद्ध और
ोद्धाओं की कहानियाँ सुनते-सुनते शिवाजी का मस्तिष्क युद्ध-कला
े दाँव-पेचों और बारीकियों को समझने में अत्यन्त प्रवीण हो गया
ा । अपने शत्रुओं से मोर्चा लेने से पहले वह युद्ध की पूरी योजना
ैयार कर लेते थे । योजना तैयार करते समय वह इस बात का पूरा
्यान रखते थे कि जिससे अपने दल को कम-से-कम हानि पहुँचे । अपने
ात्रुओं की कमजोरी का वह पूरा लाभ उठाते थे और बहुधा अपनी
ारी शक्ति उस कमजोर भाग पर केंद्रित करके ही अपने से कई
ुना शक्तिशाली शत्रु को परास्त कर देते थे । शिवाजी की जीवनी
इस सत्य का प्रमाण है कि मेधावी व्यक्ति शिक्षा और अनुभव के न
होने पर भी आत्म-निर्भर रहकर और कठिन श्रम करके उन व्यक्तियों
से आगे निकल सकता है, जिन्हें शिक्षा और अनुभव दोनों मिले हों ।

शिवाजी चतुर और पराक्रमी होने के अतिरिक्त भावुक भी थे ।
उनकी भावुकता की कई घटनाएं प्रसिद्ध हैं । शत्रु-दल के सिपाहियों
और अफसरों को गिरफ्तार करने के बाद उन पर सख्ती करने की
अपेक्षा वह इनाम देकर छोड़ देते थे । एक बार औरंगज़ेब के एक
सेनापति ने जो शिवाजी को 'सबक सिखाने के लिए' दिल्ली से आया
था, पूना से शिवाजी को हटाकर उस पर अपना कब्जा कर लिया ।
शिवाजी और उनके कुछ साथी, बरातियों के वेश में एक बरात में
शामिल होकर उस महल में दाखिल हो गये, जहाँ वह सेनापति
ठहरा था । सेनापति के कमरे में पहुँचकर शिवाजी और उनके साथियों
ने सेनापति पर आक्रमण किया । बेचारा सेनापति डर के मारे

गया। रात-दिन उन्हें यही चिन्ता रहती कि अपने साथियों को किस प्रकार एक ऐसे सूत्र में बाँधा जाए जिससे वे कभी अलग न हो सकें, और जिसमें बँधे रहकर वह अपनी मातृ-भूमि को स्वतंत्र-करते जायें। अब तक माँ से जिन नेताओं की कहानियाँ उसने सुनी थीं, ऐसा ही एक नेता बनने की ज्वलन्त इच्छा नवयुवक शिवाजी के मन में जाग्रत होकर दिन-प्रति-दिन अधिक ज्वलन्त होती चली गई।

उस समय नवयुवक शिवाजी के सामने यह प्रश्न नहीं था कि वह अशिक्षित है और आगे चलकर उसे शिक्षित और अनुभवी सरकारों से मोर्चा लेना होगा, न ही शिवाजी के पास यह सोचने का समय था कि वह एक गरीब परिवार में पैदा हुआ है और उसकी आकृति नेताओं जैसी प्रभावशाली नहीं है। शायद उसने यह भी नहीं सोचा होगा कि मुट्ठी-भर साथियों का सामूहिक शारीरिक-बल और शस्त्र-चतुराई उस महान् उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकेंगे जो उसके सामने था, उस उद्देश्य-प्राप्ति के लिये धन तथा अन्य साधनों की भी आवश्यकता है।

इन सब कमियों के-बावजूद भी नवयुवक शिवाजी में ऐसे कौन से गुण थे, जिनके कारण उनको अपने कठिन उद्देश्य की पूर्ति के लिये सतत सहायता और सहयोग मिलता रहा और जिनके कारण उन्हें निराशा या असफलता का सामना नहीं करना पड़ा।

ये गुण थे—उनकी दिलेरी, उनका देशप्रेम और उनकी युद्ध-कुशलता।

देखने में शिवाजी एक दुर्बल पुरुष दीखते थे, परन्तु उनके अवयव वर्गों के कठिन-युद्धाभ्यास और कठिन-जीवन से सुदृढ़ बन गये थे। दरिद्रता ने उन्हें भूख, प्यास और मौसम की तीव्रता को सहन करना सिखा दिया था। घुड़सवार वह इतने अच्छे थे और अपने

इलाके की सब पहाड़ियों के मार्गों का ज्ञान उनका इतना सही था कि शत्रुओं द्वारा उन्हें दी गई उपाधि 'पहाड़ी चूहा' एक प्रकार से ठीक ही थी ।

किसी शाला में शिक्षा न पाकर भी माँ के मुंह से युद्ध और योद्धाओं की कहानियाँ सुनते-सुनते शिवाजी का मस्तिष्क युद्ध-कला के दाँव-पेचों और बारीकियों को समझने में अत्यन्त प्रवीण हो गया था । अपने शत्रुओं से मोर्चा लेने से पहले वह युद्ध की पूरी योजना तैयार कर लेते थे । योजना तैयार करते समय वह इस बात का पूरा ध्यान रखते थे कि जिससे अपने दल को कम-से-कम हानि पहुँचे । अपने शत्रुओं की कमजोरी का वह पूरा लाभ उठाते थे और बहुधा अपनी सारी शक्ति उस कमजोर भाग पर केंद्रित करके ही अपने से कई गुना शक्तिशाली शत्रु को परास्त कर देते थे । शिवाजी की जीवनी इस सत्य का प्रमाण है कि मेधावी व्यक्ति शिक्षा और अनुभव के न होने पर भी आत्म-निर्भर रहकर और कठिन श्रम करके उन व्यक्तियों से आगे निकल सकता है, जिन्हें शिक्षा और अनुभव दोनों मिले हों ।

शिवाजी चतुर और पराक्रमी होने के अतिरिक्त भावुक भी थे । उनकी भावुकता की कई घटनाएं प्रसिद्ध हैं । शत्रु-दल के सिपाहियों और अफसरों को गिरफ्तार करने के बाद उन पर सख्ती करने की अपेक्षा वह इनाम देकर छोड़ देते थे । एक बार औरंगज़ेब के एक सेनापति ने जो शिवाजी को 'सबक सिखाने के लिए' दिल्ली से आया था, पूना से शिवाजी को हटाकर उस पर अपना कब्जा कर लिया । शिवाजी और उनके कुछ साथी, बरातियों के वेश में एक बरात में शामिल होकर उस महल में दाखिल हो गये, जहाँ वह सेनापति ठहरा था । सेनापति के कमरे में पहुँचकर शिवाजी और उनके साथियों ने सेनापति पर आक्रमण किया । बेचारा सेनापति डर के मारे

उनकी इस अनुपस्थित का लाभ उठाकर किले के खजाने तथा उसके अस्त्र-शस्त्रों पर अधिकार कर लिया। किले के अधिकारी ने बीजापुर-नरेश से शिकायत की, पर शिवाजी ने बीजापुर के दरबारियों को घूस देकर स्वयं को ही किले का अधिकारी नियुक्त करा लिया।

कुछ दिनों बाद शिवाजी ने तोरण से छः मील दूर स्थित मोरबाद पहाड़ी को जीतकर वहाँ राजगढ़ नाम का किला बनाया। कुछ समय पश्चात् उनकी रियासत के दक्षिणी-भाग में स्थित कोंडाना और पुरन्दर नाम के किले भी उनके अधिकार में आ गये। कोंडाना का नाम शिवाजी ने बदलकर सिंहगढ़ रखा।

यह चारों किले तो शिवाजी के अधिकार में आगये पर उनकी सुरक्षा में उनका खजाना खाली हो गया। रुपया एकत्रित करने के इरादे से उन्होंने कल्याण के मुसलमान शासक के उस शाही खजाने को, जो कल्याण से बीजापुर जा रहा था, लूटा। इस विपुल राशि की प्राप्ति से शिवाजी का उत्साह बढ़ गया और उन्होंने कुछ ही समय में पूना के पश्चिम में स्थित नौ किलों को जीतने के अतिरिक्त कल्याण को भी अपने अधिकार में कर लिया।

जब यह समाचार बीजापुर-नरेश को मिला, तो उसके क्रोध की सीमा न रही। उसने शिवाजी के पास संदेश भिजवाया कि वह तुरन्त बीजापुर दरबार में उपस्थित हों। शिवाजी ने उत्तर भिजवाया कि यदि उसके अधिकार में जो किले और भूमि है, वह उसके पास ही रहने दिये जायें तो वह आने के लिये तैयार हैं। शिवाजी के इस उत्तर से और भी क्रोधित होकर बीजापुर-नरेश ने एक मराठा सरदार बाजी घोरपड़े के हाथ शिवाजी के पिता शाहजी को पकड़कर एक दीवार में आधा चिनवा दिया, और शाहजी से कहा कि वह तभी मुक्त हो सकता है, जब शिवाजी दरबार में आकर आत्मसमर्पण करे।

खिड़की के रास्ते वाहर भाग गया, मगर भागते-भागते भी उसकी एक अंगुली तलवार के प्रहार से कट ही गई। उस सेनापति के लड़के तथा कई सिपाहियों को मारकर शिवाजी और उनके साथी सकुशल वापिस लौट आये।

जव औरंगजेव ने शिवाजी और उनके लड़के को आगरे में वंदी वना लिया था, तव उन्होंने वंदीगृह से भाग निकलने का एक अनूठा उपाय सोचा था। वन्दीगृह से उन्होंने आम तथा अन्य फल अपने सम्वन्धियों को भेजने आरम्भ कर दिये और एक दिन आमों के इन्हीं दो टोकरों में वैठकर पिता-पुत्र वन्दीगृह से भाग निकले। रास्ते में जव उन्हें पकड़ने के लिये खुफिया सिपाही जगह-जगह तैनात कर दिये गये, तव दोनों ने अपनी दाढ़ी और मूछ मुंड़वाकर, सारे शरीर में भभूत मलकर सन्यासी का वेश वना लिया और इसी वेश में अपने स्थान पहुँचे। वह हमेशा खतरे का जीवन पसंद करते थे, और जो आदमी खतरे के वीच चलता रहता है, उसमें भावुकता आप-ही-आप आ जाती है।

शिवाजी के शत्रुओं ने भी स्वीकार किया है कि स्त्रियों और विशेषतयां शत्रु-दल से पकड़कर आई हुई स्त्रियों के साथ, शिवाजी का व्यवहार कितना आदरपूर्ण होता था। युद्ध में विजयी होने के वाद भी पराजित भूमि-प्रदेश के किसी भी धार्मिक स्थान को चाहे वह मस्जिद रही हो या गिरजाघर, उन्होंने नष्ट नहीं किया और न उन्हें लूटा ही।

१६४६ में शिवाजी ने पूना के दक्षिण-पश्चिम भाग में स्थित तोरण नामक किले को जो वीजापुर-नरेश के कब्जे में था, जीत लिया। इस किले के अधिकारी वर्षाऋतु में इस किले को छोड़कर वाहर चले जाते थे तथा शीत ऋतु के आरम्भ होने पर लौटते थे। शिवाजी ने

उनकी इस अनुपस्थित का लाभ उठाकर किले के खजाने तथा उसके अस्त्र-शस्त्रों पर अधिकार कर लिया। किले के अधिकारी ने बीजापुर-नरेश से शिकायत की, पर शिवाजी ने बीजापुर के दरबारियों को घूस देकर स्वयं को ही किले का अधिकारी नियुक्त करा लिया।

कुछ दिनों बाद शिवाजी ने तोरण से छः मील दूर स्थित मोरबाद पहाड़ी को जीतकर वहाँ राजगढ़ नाम का किला बनाया। कुछ समय पश्चात् उनकी रियासत के दक्षिणी-भाग में स्थित कोंडाना और पुरन्दर नाम के किले भी उनके अधिकार में आ गये। कोंडाना का नाम शिवाजी ने बदलकर सिंहगढ़ रखा।

यह चारों किले तो शिवाजी के अधिकार में आगये पर उनकी सुरक्षा में उनका खजाना खाली हो गया। रुपया एकत्रित करने के इरादे से उन्होंने कल्याण के मुसलमान शासक के उस शाही खजाने को, जो कल्याण से बीजापुर जा रहा था, लूटा। इस विपुल राशि की प्राप्ति से शिवाजी का उत्साह बढ़ गया और उन्होंने कुछ ही समय में पूना के पश्चिम में स्थित नौ किलों को जीतने के अतिरिक्त कल्याण को भी अपने अधिकार में कर लिया।

जब यह समाचार बीजापुर-नरेश को मिला, तो उसके क्रोध की सीमा न रही। उसने शिवाजी के पास संदेश भिजवाया कि वह तुरन्त बीजापुर दरबार में उपस्थित हों। शिवाजी ने उत्तर भिजवाया कि यदि उसके अधिकार में जो किले और भूमि हैं, वह उसके पास ही रहने दिये जायें तो वह आने के लिये तैयार हैं। शिवाजी के इस उत्तर से और भी क्रोधित होकर बीजापुर-नरेश ने एक मराठा सरदार बाजी घोरपड़े के हाथ शिवाजी के पिता शाहजी को पकड़कर एक दीवार में आधा चिनवा दिया, और शाहजी से कहा कि वह तभी मुक्त हो सकता है, जब शिवाजी दरबार में आकर आत्मसमर्पण करे।

भेजी । शिवाजी ने पन्हाला नामक किले पर कब्जा कर लिया था, पर उसे जोहर ने घेर लिया । वहाँ से बड़ी चतुराई से भागकर वे विशालगढ़ नामक किले में आये जिसे जोहर नहीं जीत सका और उसे भागना पड़ा ।

विशालगढ़ में रहकर ही शिवाजी ने वाजी घोरपड़े पर, जो उनके पिता की गिरफ्तारी के लिये जिम्मेवार था, आक्रमण किया । घोरपड़े के मारने के वाद शिवाजी ने उसका सब खजाना भी लूट लिया ।

बीजापुर के राजा को अब मुगलों के डर के अतिरिक्त शिवाजी का भी भारी डर हो गया । उसने शिवाजी के पिता को सन्धि के प्रस्ताव के साथ शिवाजी के पास भेजा । शिवाजी तथा शाहजी आपस में मिले । शिवाजी ने बीजापुर-नरेश को आश्वासन दिया कि वह हर आक्रमण में उनकी सहायता करेगा । बीजापुर-नरेश ने शिवाजी को उन सब किलों और नगरों का स्वामी स्वीकार किया, जो उनके अधिकार में उस समय थे । पिता के परामर्श पर शिवाजी अपनी राजधानी रायगढ़ में ले आये ।

इसके पश्चात् शिवाजी ने अपना ध्यान मुगलों के दासत्व से मराठों को विमुक्त करने पर केंद्रित किया ।

औरंगजेब इधर दिल्ली का सम्राट् बन चुका था और शिवाजी को जीतना चाहता था । उसने दक्षिण के अपने प्रतिनिधि शाइस्ताखाँ के नेतृत्व में एक बड़ी सेना शिवाजी को पकड़ने के लिये भेजी ।

शाइस्ताखाँ ने आते ही शिवाजी से सब किले और यहाँ तक कि पूना नगर भी जीत लिया । इसी अवसर पर शिवाजी और उनके कुछ साथी बारातियों के वेश में पूना के किले में दाखिल हुए थे और शाइस्ताखाँ को उनके डर के मारे खिड़की के रास्ते से

भागना पड़ा था। इस घटना से कोई और लाभ तो नहीं हुआ, लेकिन शिवाजी की निर्भयता और दबंगपने की छाप उनके शत्रुओं के हृदयों पर लग गई।

इस घटना के कुछ महीने बाद शिवाजी ने सूरत पर छापा मारा। यह नगर मुगलों के अधीन था, और व्यापारी नगर होने के कारण यहाँ धन प्रचुर मात्रा में था। शिवाजी के आने का समाचार सुनकर नगर की दो लाख जनता नगर छोड़कर भाग गई। केवल कुछ अंग्रेज और डच व्यापारी रह गये। चार दिन तक शिवाजी की सेना ने सूरत को लूटा। उस समय शिवाजी को धन की आवश्यकता बहुत अधिक थी, सूरत की लूट ने यह आवश्यकता पूरी कर दी।

इस लूट के बाद कुछ अंग्रेज शिवाजी को केवल लुटेरा कहकर पुकारने लगे थे। परन्तु एक अंग्रेज इतिहास-लेखक ने, जो इस घटना के कुछ वर्ष बाद रायगढ़ के किले में शिवाजी से मिला था, शिवाजी के विषय में लिखा है—

"शिवाजी से मिलने से पूर्व, मैं कल्पना में एक ऐसे खूंखार व्यक्ति को शिवाजी माना करता था जो शैतान के समान दीखने वाले साथियों से, जो नंगी तलवारें लिये उनकी प्रत्येक आज्ञा को मानने के लिये तत्पर रहते हैं, घिरा बैठा रहता होगा। परन्तु असली शिवाजी को देखकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। वह एक कुएं के पास बनी पत्थर की बेंच पर अकेले बैठे थे। उनके आसपास कोई अंग-रक्षक नहीं था। वह पनघट पर आई स्त्रियों से बातें कर रहे थे तथा उनसे उनके पतियों, भाइयों और पुत्रों के विषय में प्रश्न कर रहे थे। उन स्त्रियों के साथ आए बच्चों को वह फल और मिठाइयाँ दे रहे थे। जीवन में इतने दयालु और सज्जन आदमी कम ही देखे हैं। शिवाजी के शत्रु शिवाजी को कुछ ही समझें, परन्तु इसमें कोई सन्देह

नहीं कि उनकी प्रजा उन्हें अपने पिता के समान मानती थी।"

शिवाजी को लड़ाइयाँ लड़ते-लड़ते दस साल वीत चुके थे और इस वीच उनकी सफलताओं के समाचार मुगल-सम्राट औरंगजेब को कई वार मिल चुके थे। आखिर तंग आकर और यह सोचकर कि कहीं शिवाजी अपनी शक्ति इतनी न वढ़ा ले कि मुगल-साम्राज्य के लिये ही खतरा वन जाये, औरंगजेब ने अपने सवसे योग्य सेनापति जयसिंह को एक वड़ी और सुसज्जित सेना के साथ शिवाजी को परास्त करने के लिये भेजा। जयसिंह की विशाल सेना के सामने शिवाजी की छोटी सेना को पीछे हटना पड़ा और तीन-चार महीने में जयसिंह ने शिवाजी के कई किले जीत लिये।

हारकर, शिवाजी को जयसिंह के पास संधि-प्रस्ताव भेजना पड़ा। इस प्रस्ताव में शिवाजी ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वह वीजापुर के विरुद्ध लड़ने के लिये मुगलों का साथ देने के लिये प्रस्तुत है। जयसिंह ने उत्तर में कहला भेजा कि शिवाजी सन्धि औरंगजेब से ही कर सकते हैं और इसके लिये उन्हें दिल्ली चलना होगा। शिवाजी दिल्ली जाने के लिये तैयार हो गये।

यदि औरंगजेब ने शिवाजी को अपना साथी मानकर, उनके साथ वरावरी का और सम्मानपूर्ण व्यवहार किया होता, तो शायद मुगल-साम्राज्य का पतन इतना शीघ्र न होता जितना औरंगजेब के वाद हुआ; नहीं तो कम-से-कम दक्षिण में तो मुगलों के पाँव न उखड़ जाते और औरंगजेब को अपने जीवन के अंतिम वर्ष दक्षिण में ही न व्यतीत करने पड़ते। परन्तु उसके अभद्र और अपमानजनक व्यवहार ने शिवाजी को, जो दिल्ली में सद्भावनाओं के साथ आये थे, पुनः उसका कट्टर शत्रु वना दिया। औरंगजेब शिवाजी के शत्रुता के भावों को भाँप गया और उसने उनको दिल्ली में नजरवन्द करा दिया।

यह नजरवन्दी इतनी कड़ी थी कि भागने की कल्पना भी करना कठिन था, फिर भी शिवाजी अपनी बुद्धि का प्रयोग करके वहाँ से भाग आने में सफल हो गये। औरंगजेब दाँत पीसता ही रह गया।

दिल्ली से लौट आने के वाद शिवाजी के दो-तीन वर्ष अत्यन्त शांतिपूर्वक व्यतीत हुए। बीजापुर के राजा ने, जो शिवाजी का सबसे वड़ा शत्रु था, शिवाजी से सन्धि कर ली। इन दोनों वर्षो में यद्यपि शिवाजी ने कोई लड़ाई नहीं लड़ी, परंतु वह अपनी सेना को वढ़ाते रहे और सिपाहियों को शिक्षित करते रहे।

दो वर्षो के वाद औरंगजेब ने पुनः शिवाजी को पकड़ने का प्रयत्न किया। शिवाजी ने इसे एक चुनौती समझकर खुले-आम मुगल राज्य में लूट-मार करनी और शहरों को जीतना आरम्भ कर दिया। इन लूटों में उन्हें अपार धन मिला। एक वार मुगल सेना के आमने-सामने लड़ने का अवसर भी आया। इस वार शिवाजी के सामने मुगलों को हारकर भागना पड़ा। इस विजय के वाद दक्षिण-भारत में मुगलों के स्थान पर शिवाजी के नाम की दुंदुभि वजने लगी।

२१ मई १६७४ ई० को रायगढ़ की गद्दी पर वैठकर शिवाजी ने अपने को 'छत्रपति' घोषित किया।

वनारस के एक वड़े पुजारी गागा भट्ट ने उनका राजतिलक किया। उनको स्वर्ण-मुद्राओं से भी तोला गया और ये मुद्रायें ब्राह्मणों में वितरित की गईं।

राज-तिलक के अगले दिन ही उनके पास वम्वई से अंग्रेजों का एक दूत आया। अंग्रेज व्यापारी राजापुर तथा हुवली स्थित अपनी फैक्टरियों पर शिवाजी द्वारा आक्रमण का हर्जाना चाहते थे। शिवाजी ने राजापुर की फैक्टरी का हर्जाना १०,००० पगोड़ा दे दिया, पर सूरत

के हर्जाने के दावे को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अंग्रेजों को राजापुर घमोल, चौल और कल्याण में फैक्टरियाँ वनाने की तथा ढाई प्रतिशत कर देकर, अंग्रेजी मुद्राओं द्वारा, अपने राज्य में व्यापार करने की अनुमति प्रदान की।

इसके कुछ दिन वाद ही उनकी माता जीजावाई का देहान्त हो गया। इस घटना से व्यथित शिवाजी ने शिवनेर को, जहाँ उनका जन्म हुआ था, लेने का निश्चय किया। वह अपने राज्य के दक्षिणी भाग में फैली उस विस्तृत-भूमि को जीतकर अपने राज्य को पूर्णतया सुरक्षित रखना चाहते थे। उनको औरंगजेव का निरन्तर भय था और वह अपने राज्य को अधिक-से-अधिक विस्तृत और दृढ़ करना चाहते थे।

अगले छः साल तक शिवाजी दक्षिण में निरन्तर अपने राज्य के विस्तार को वढ़ाते ही रहे। इन वर्षों में कर्नाटक की विजय उनकी सव से वड़ी विजय थी।

अपने जीवन के अंतिम वर्षों में शिवाजी को अपने पुत्र शम्भाजी के कारण महान् कष्ट पहुँचा। एक महत्त्वपूर्ण युद्ध में विजय प्राप्त करके, एक वार जव वे पन्हाला पहुँचे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि शम्भाजी मुगल सेनापति दिलेरखाँ से मिल गया है। जव औरंगजेव ने शम्भाजी को दिल्ली बुलाना चाहा, तो वह भागकर शिवाजी के पास आ गया। शिवाजी ने उसे पन्हाला में कैद कर दिया।

१६८० ई० में शिवाजी ने वम्वई स्थित अंग्रेजी जहाजों पर आक्रमण किया, क्योंकि अंग्रेज मुगलों से मिल गये थे। वह शिवाजी का अन्तिम युद्ध था, क्योंकि २८ मार्च १६८० को उस आक्रमण से लौटने के वाद वह बीमार पड़ गये और ३ अप्रैल को उनका देहान्त हो गया।

शिवाजी की सफलताओं का एक वड़ा कारण यह था कि वह अपने साथियों का चुनाव वड़े यत्न से करते थे, और एक वार चुनाव

करके उस व्यक्ति पर अन्त तक विश्वास रखते थे। उनकी परीक्षण-शक्ति इतनी अचूक थी कि उनके किसी भी साथी या अनुयायी ने उन्हें कभी भी धोखा नहीं दिया। शिवाजी के प्रति उन लोगों के मन में असीम श्रद्धा और आदर था और उनके लिए वे सदैव मरने को तैयार रहते थे। शिवाजी समय-समय पर उन्हें पुरस्कृत करके तथा उनके साथ युद्ध में सम्मिलित होकर उनकी उत्साह-वृद्धि करते रहते थे।

शिवाजी की महानता इसमें है कि उन्होंने असंगठित और मुर्दा मराठा-जाति को संगठित करके उसमें प्राण फूंके और एक ऐसे सुदृढ़ राज्य को स्थापित किया, जो आने वाली कई शताब्दियों तक हिन्दुओं को प्रेरणा देता रहा। यदि शिवाजी दस-बारह वर्ष भी और जीते रहते तो वह एक ऐसे विशाल हिन्दू-साम्राज्य को स्थापित कर जाते, जिसकी स्पर्धा में कोई भी राज्य या जाति खड़ी नहीं रह सकती थी। भले ही उनकी मृत्यु के बाद उनके द्वारा स्थापित राज्य का स्थायी विस्तार न हो सका, फिर भी हिन्दू-जाति की सोई हुई आत्मा को जगाकर वह एक महान् कार्य कर गये थे। यदि वह इतना न कर जाते तो यह जाति कभी की रसातल को प्राप्त हो गई होती।

के हर्जाने के दावे को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अंग्रेजों को राजापुर घमोल, चौल और कल्याण में फैक्टरियाँ बनाने की तथा ढाई प्रतिशत कर देकर, अंग्रेजी मुद्राओं द्वारा, अपने राज्य में व्यापार करने की अनुमति प्रदान की।

इसके कुछ दिन वाद ही उनकी माता जीजावाई का देहान्त हो गया। इस घटना से व्यथित शिवाजी ने शिवनेर को, जहाँ उनका जन्म हुआ था, लेने का निश्चय किया। वह अपने राज्य के दक्षिणी भाग में फैली उस विस्तृत-भूमि को जीतकर अपने राज्य को पूर्णतया सुरक्षित रखना चाहते थे। उनको औरंगजेव का निरन्तर भय था और वह अपने राज्य को अधिक-से-अधिक विस्तृत और दृढ़ करना चाहते थे।

अगले छः साल तक शिवाजी दक्षिण में निरन्तर अपने राज्य के विस्तार को बढ़ाते ही रहे। इन वर्षों में कर्नाटक की विजय उनकी सव से वड़ी विजय थी।

अपने जीवन के अंतिम वर्षों में शिवाजी को अपने पुत्र शम्भाजी के कारण महान् कष्ट पहुँचा। एक महत्त्वपूर्ण युद्ध में विजय प्राप्त करके, एक वार जव वे पन्हाला पहुँचे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि शम्भाजी मुगल सेनापति दिलेरखाँ से मिल गया है। जव औरंगजेव ने शम्भाजी को दिल्ली बुलाना चाहा, तो वह भागकर शिवाजी के पास आ गया। शिवाजी ने उसे पन्हाला में क़ैद कर दिया।

१६८० ई० में शिवाजी ने वम्बई स्थित अंग्रेजी जहाजों पर आक्रमण किया, क्योंकि अंग्रेज मुगलों से मिल गये थे। वह शिवाजी का अन्तिम युद्ध था, क्योंकि २८ मार्च १६८० को इस आक्रमण से लौटने के वाद वह वीमार पड़ गये और ३ अप्रैल को उनका देहान्त हो गया।

शिवाजी की सफलताओं का एक वड़ा कारण यह था कि वह अपने साथियों का चुनाव वड़े यत्न से करते थे, और एक वार चुनाव

करके उस व्यक्ति पर अन्त तक विश्वास रखते थे। उनकी परीक्षण-शक्ति इतनी अचूक थी कि उनके किसी भी साथी या अनुयायी ने उन्हें कभी भी धोखा नहीं दिया। शिवाजी के प्रति उन लोगों के मन में असीम श्रद्धा और आदर था और उनके लिए वे सदैव मरने को तैयार रहते थे। शिवाजी समय-समय पर उन्हें पुरस्कृत करके तथा उनके साथ युद्ध में सम्मिलित होकर उनकी उत्साह-वृद्धि करते रहते थे।

शिवाजी की महानता इसमें है कि उन्होंने असंगठित और मुर्दा मराठा-जाति को संगठित करके उसमें प्राण फूंके और एक ऐसे सुदृढ़ राज्य को स्थापित किया, जो आने वाली कई शताब्दियों तक हिन्दुओं को प्रेरणा देता रहा। यदि शिवाजी दस-बारह वर्ष भी और जीते रहते तो वह एक ऐसे विशाल हिन्दू-साम्राज्य को स्थापित कर जाते, जिसकी स्पर्धा में कोई भी राज्य या जाति खड़ी नहीं रह सकती थी। भले ही उनकी मृत्यु के बाद उनके द्वारा स्थापित राज्य का स्थायी विस्तार न हो सका, फिर भी हिन्दू-जाति की सोई हुई आत्मा को जगाकर वह एक महान् कार्य कर गये थे। यदि वह इतना न कर जाते तो यह जाति कभी की रसातल को प्राप्त हो गई होती।



: ४ : महाराजा रणजीतसिंह

मुगल-साम्राज्य के पराभव के बाद अंग्रेजों के आने तक जिन-जिन राजाओं ने हमारे देश के विभिन्न भागों पर शासन किया, उनमें रणजीतसिंह का नाम सबसे अधिक विख्यात है। गोविंदसिंह ने बिखरी सिक्ख-जाति को संगठित करके उन्हें योद्धा-जाति बनाया था, बन्दा बैरागी ने इसी सिक्ख-जाति को लड़ना, मरना और जीतना सिखाया। महाराणा रणजीतसिंह ने अपनी बुद्धिमत्ता और कुशलता से इसी योद्धा-जाति को एक उन्नत राष्ट्र के रूप में परिवर्तित कर दिया। वह सिक्ख-साम्राज्य के प्रथम और अंतिम महाराज थे, जिन्होंने चालीस वर्षों तक पंजाब पर निःशंक राज्य किया। उनके राज्य का विस्तार काबुल से सतलुज तक था।

कुछ लोगों ने रणजीतसिंह के अभ्युदय और उनकी शीघ्र सफलता से नैपोलियन के उदय और उसकी शीघ्र सफलता की तुलना की है। वास्तव में नैपोलियन और महाराजा रणजीतसिंह कई बातों में एक-दूसरे से मिलते हैं। दोनों ही के राज्य का उनके बाद शीघ्र ही अन्त हो गया, परन्तु उनके वैभव और अभ्युदय की कहानी प्रायः समान ही है।

पंजाब में आज भी रणजीतसिंह का मान किसी भी आधुनिक राष्ट्रीय नेता से कम नहीं है। घर-घर में उनके चित्र टंगे मिलते हैं और चित्रकार और कवि लोग उनके चित्र बनाने और उनके विषय में कविता लिखते कभी नहीं थकते। देखने में महाराजा स्वरूपवान् नहीं थे, फिर भी उनके असुन्दर चेहरे पर एक प्रकार का तेज या जो

दर्शकों को एकवारगी अपनी ओर आकर्षित कर लेता था। उनका चेहरा एक वार देखकर भुलाई जाने वाली वस्तु नहीं था। उनकी वाईं आँख जाती रही थी और स्नायु रोग से पीड़ित होने पर भी वह युद्धों में वड़ी वीरता से भाग लेते थे। घोड़ों और घुड़सवारी का उन्हें वड़ा शौक था और प्रायः वह विना थके, पूरा दिन घोड़े पर वैठे-वैठे ही व्यतीत कर देते थे। तलवार चलाने में उनका मुकावला करने वाला उनके समय में कोई नहीं था।

उनकी पोशाक अत्यन्त सादी रहती थी। भव्य वस्त्रों तथा आभूषणों का प्रयोग वे विशेष अवसरों पर ही करते थे। दर्शक को तो वह अपने असाधारण तेज से ही विस्मित कर देते थे। कहते हैं कि १८३१ में एक अंग्रेज अफसर ने फकीर अजीजुद्दीन नाम के व्यक्ति से, जो महाराजा का सलाहकार और वैद्य था, पूछा कि महाराजा कौनसी आँख से काने हैं? फकीर ने उत्तर दिया था—'महाराजा के चेहरे पर ऐसा तेज है कि मैं कभी उनके चेहरे को अच्छी तरह नहीं देख सका।'

भारत के इतिहास में सिक्खों के उदय और उत्थान की कथा एक अपूर्व कथा है। सिक्ख जाति का जन्म एक छोटे धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में गुरु नानक नाम के सन्त द्वारा हुआ था। गुरु नानक का जन्म लाहौर के निकट एक गाँव में हुआ था। वड़े होकर, युवावस्था में ही नानक संसार से विरक्त हो गये, और लोगों को धार्मिक उपदेश देने लगे। कवीर की भाँति नानक भी सव धर्मों की, और विशेषतया हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के स्वरूपों की समानता और एकता पर वहुत जोर देते थे। कवीर की भाँति नानक भी कहते थे—'जो राम है, वही रहीम है। जो काशी में प्राप्त होता है, वही मक्का में भी प्राप्त हो सकता है।'

धीरे-धीरे नानक के धार्मिक शिष्यों और अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई। ये लोग नानक को अपना गुरु और अपने को उनका शिष्य (सिख) कहते थे।

अपनी मृत्यु से पूर्व नानक अपना उत्तराधिकारी 'गुरु' चुन गये थे। गुरु नानक के पश्चात् आने वाले चार गुरुओं ने अपना ध्यान शांतिपूर्ण ढंग से धर्मप्रचार में ही केंद्रित रखा। चौथे गुरु को अकबर ने अमृतसर नामक किला के निकट कुछ भूमि प्रदान की थी, इस भूमि पर चौथे गुरु ने आश्रम बनाया और उसी आश्रम की स्मृति में अमृतसर का स्वर्ण-मंदिर बना। तब से अमृतसर सिक्खों का पवित्र स्थान है।

पाँचवें गुरु अर्जुनसिंह ने 'आदिग्रन्थ' का सम्पादन किया। यह ग्रन्थ पिछले सब गुरुओं की उक्तियों के आधार पर रचा गया था, और यह सिक्खों की 'गीता' बन गई। परन्तु अर्जुनसिंह के शाहजादा खुसरू के विद्रोह में भाग लेने के कारण जहाँगीर उनसे अप्रसन्न हो गया और उसने उनका वध करा डाला। इस घटना ने सिक्खों को मुसल्मानों का शत्रु बना दिया।

आखिर औरंगजेब ने तेगबहादुर को मरवा डाला ।

तेगबहादुर के मरने पर गोविन्दसिंह दसवें गुरु बने । गोविन्दसिंह ने सिक्खों को वास्तविक रूप में योद्धा-जाति के रूप में परिणत कर दिया । उन्होंने उनमें ऐसा मन्त्र फूंका, जिससे प्रेरित होकर वे मुगलों के विरुद्ध लड़ने-मरने को तैयार हो गये । उन्होंने सिक्खों को पाँच वस्तुओं का अनिवार्य उपयोग करने का आदेश दिया, और उन्हें 'खालसा' की उपाधि से विभूषित किया । गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के पश्चात् बन्दा वैरागी नाम के सिक्ख नेता ने मुसलमानों के विरुद्ध लड़ाई कायम रखी ।

मुगल-साम्राज्य की पतनोन्मुख अवस्था के समय पंजाब की हालत बड़ी अस्थिर थी । उस पर कभी उत्तर-पश्चिम से अफगान आक्रमण करते थे और कभी दक्षिण से मराठे । सिक्ख लोग भी, किसी कुशल नेता के अभाव में, असंगठित होकर बारह मिस्लों (श्रेणियों) में बंट गये थे । उनमें वह अनुशासन तथा आदर्श-पालन की भावना भी नहीं रही थी जो गुरु गोविन्दसिंह के समय विद्यमान थी । गुरुओं के आदेशों को भूलकर सिक्खों ने विभिन्न व्यसनों का सेवन भी आरम्भ कर दिया था । इन्हीं दिनों रणजीतसिंह का जन्म हुआ ।

महाराजा रणजीतसिंह सरदार महासिंह के लड़के थे, जो एक छोटे से राज्य का मुखिया था । उनका जन्म १७८० ई० में हुआ था । उनके पिता महासिंह का जीवन अपने पड़ोसी सरदारों और राजाओं से युद्ध करते बीता । बालक रणजीतसिंह भी इन युद्धों में अपने पिता के साथ रहते थे और इस प्रकार बाल्यकाल में ही उन्हें युद्ध-कला का पूरा ज्ञान हो गया । जब उनकी आयु दस वर्ष की ही थी, तब उन्हें अपने पिता के साथ एक युद्ध में जाना पड़ा । यह युद्ध एक मुसलमान

मुख्य केंद्र अमृतसर था। रणजीतसिंह ने प्रसिद्ध 'जमजम तोप' की जो आजकल लाहौर के अजायबघर के सामने खड़ी है, लेने का बहाना करके अमृतसर पर आक्रमण किया और उसे जीतकर सब सरदारों को वहाँ से मार भगाया। अमृतसर पर कब्जा करने से रणजीतसिंह का नाम और प्रभुत्व और भी बढ़ गया। वह सिक्खों के दो प्रसिद्ध नगरों, लाहौर और अमृतसर, के स्वामी बन गये थे।

सन् १८१६ ई० में उन्होंने अमृतसर, जालन्धर, और गुरुदासपुर का सारा इलाका और उसमें स्थित एक सौ के करीब छोटे किले भी जीत लिये। अब पंजाब में उनका प्रतिद्वन्द्वी केवल एक ही था, वह थी उनकी सास माई सदाकौर जो बटाला तथा उसके आसपास की भूमि की स्वामिनी थी।

महाराजा रणजीतसिंह ने कई बार माई सदाकौर को सलाह दी थी कि वह राजनीति त्याग करके सन्यास ले ले, परन्तु सदाकौर को यह स्वीकार न था। उसे हुकूमत पसन्द थी। महाराजा ने उसे लाहौर के पास शाहदरा में नजरबन्द करा दिया, लेकिन वह निकल भागी और बटाला पहुँचकर उसने अंग्रेजों से रणजीतसिंह के विरुद्ध सहायता की प्रार्थना की। महाराजा को जब इन बातों का पता चला तो उन्होंने सदाकौर को पकड़वा भेजा और फिर राजनीति से कोई सम्बन्ध न रखने को कहा। जब सदाकौर ने दोबारा इस प्रस्ताव को न माना तो रणजीतसिंह ने उसे कैद करा दिया, जहाँ कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद बटाला का राज्य भी रणजीतसिंह को मिल गया, जिसे उन्होंने सदाकौर के एक लड़के शेरसिंह को जागीर के रूप में सौंप दिया।

जिस समय रणजीतसिंह पंजाब में अपना प्रभुत्व स्थापित कर रहे थे, ठीक उसी समय अंग्रेजी-राज्य हिन्दुस्तान में तीव्र गति से

फैलता जा रहा था। हिन्दुस्तान के नक्शे पर लाल रंग फैलता जा रहा था और एकबार रणजीतसिंह ने ठीक ही भविष्यवाणी की थी कि शीघ्र ही सारा हिन्दुस्तान लाल हो जायगा। मराठों को परास्त करके सन् १८०३ ई० में जनरल लेक दिल्ली को ले चुका था। सिरसा, रोहतक, हिसार, दिल्ली और आगरा अंग्रेजों के पास जा चुके थे।

सन् १८०४ ई०में मराठों के प्रधान जसवन्तराव होल्कर ने फिर दिल्ली पर अंग्रेजों के विरुद्ध चढ़ाई की परन्तु हारकर उसे पंजाब भागना पड़ा। वहाँ उसने पटियाला तथा अन्य रियासतों के राजाओं से मदद माँगी, परन्तु अंग्रेजों के डर के मारे कोई तैयार न हुआ। सन् १८०५ ई० में लेक के आक्रमण के फलस्वरूप पीछे हटकर होल्कर, रणजीतसिंह के पास पहुँचा और उनसे अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने के के लिये सहायता माँगी। महाराजा इस प्रस्ताव पर विचार कर ही रहे थे कि अंग्रेजों ने होल्कर और रणजीतसिंह दोनों से सन्धि कर ली। पहली जनवरी सन् १८०६ ई० को सन्धि हुई। इस के अनुसार अंग्रेजों ने महाराजा को आश्वासन दिया कि जब तक वह होल्कर से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं रखेंगे, तब तक अंग्रेज उनके राज्य के सीमा में प्रवेश नहीं करेंगे और संकट के समय उनकी सहायता करेंगें।

सन्धि की शर्त को स्वीकार करके और अंग्रेजों की ओर से पूर्णतया निश्चिन्त होकर महाराजा ने पश्चिम की ओर अपना राज्य-विस्तार बढ़ाने की योजना बनाई। सतलज की ओर की छोटी-छोटी सिक्ख रियासतों की अवस्था भी असन्तोषजनक थी। अपने चचा, जीन्द के राजा भगतसिंह के कहने पर रणजीतसिंह एक बड़ी सेना लेकर सतलज पार करके लुधियाना और आसपास के प्रदेशों को जीतने

सके । अंग्रेजों ने इस डर से कि कहीं वह उनकी सीमा में प्रवेश न कर लें, करनाल में एक फौज एकत्रित की, लेकिन रणजीतसिंह ने अंग्रेजों के राज्य में प्रवेश नहीं किया । दो जिले जीतकर उन्होंने अपने मित्रों को इनाम में दे दिये ।

एक साल बाद उन्होंने नारायणगढ, वदनी, मोरिन्डा ,जीरा आदि स्थान जीतकर फिर अपने मित्रों को दे दिये । महाराजा का ध्यान सतलज के पश्चिम की सब रियासतों, अम्बाला, फरीदकोट, पटियाला को जीतकर सब सिख रियासतों का स्वामी बनने का था । इस प्रकार वह एक सुसंगठित सिख राज्य की स्थापना करना चाहते थे, जो अंग्रेजों से टक्कर ले सके । अंग्रेज यद्यपि उन दिनों कलकत्ते से लेकर दिल्ली तक के प्रदेश के स्वामी थे, फिर भी उन्हें अफगानों और नैपोलियन के भारत पर आक्रमण करने का भारी भय था । उन्होंने रणजीतसिंह के पास एक राजदूत भेजकर यह जानना चाहा कि यदि फ्रांस या अफगानों ने अंग्रेजों पर आक्रमण किया तो क्या वह अंग्रेजों को सहायता देंगे ? महाराजा ने सहायता इस शर्त पर देनी स्वीकार की कि बदले में उन्हें अंग्रेज सतलज से दिल्ली तक की सब सिख-रियासतों का राजा स्वीकार कर लें । अंग्रेज महाराजा की इस शर्त को स्वीकार करने को राजी थे परन्तु कुछ सिक्ख सरदारों ने जो महाराजा से ईर्ष्या रखते थे, उन्हें ऐसा करने से रोका और रणजीतसिंह की—अपनी ही जाति के राजा की—आधीनता में रहने की अपेक्षा अंग्रेजों की आधीनता में रहना बेहतर समझा । परिस्थिति की गम्भीरता को समझकर और सिक्ख-सरदारों की कुमति को देखते हुए, महाराजा ने बुद्धिमत्ता इसी में समझी कि अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध खराब न किये जायें और सतलज तक ही अपने राज्य की सीमा रखने का आश्वासन उन्हें दे दिया । पूर्व से ध्यान हटाकर

अब उन्होंने मुल्तान, काश्मीर, पेशावर, डेराजाट आदि प्रदेशों को अपने राज्य में शामिल करने का विचार किया।

महाराजा के काल में मुल्तान का नवाब मुजफ्फरखान था। १८०६ में झंग को जीतने के बाद महाराजा ने मुल्तान पर भी चढ़ाई करने का विचार किया था, परन्तु नवाब लड़ाई नहीं करना चाहता था इसलिये उसने ७०,०००) रु० महाराजा को भेंट करके उन्हें विदा कर दिया था। अगले वर्ष फिर महाराजा ने मुल्तान पर आक्रमण किया, लेकिन लड़ाई के बीच फिर नवाब ने एक बड़ी रकम महाराजा को भेंट करके उन्हें विदा कर दिया। दो-तीन बार इसी प्रकार लम्बी रकमें लेकर लौट आने के बाद अन्त में महाराजा ने मुल्तान के किले को जीतने का पूर्ण निश्चय ही कर लिया। १८१८ ई० में १८,००० सैनिकों की एक सेना मुल्तान को जीतने के लिये भेजी गई। यद्यपि नवाब के पास केवल २००० ही सैनिक थे फिर भी उसने बड़ी वीरता से सिक्खों का मुकाबला किया, परन्तु उसे हारना पड़ा। मुल्तान को जीतने के बाद महाराजा को अपार धन-राशि प्राप्त हुई।

मुल्तान लेने के बाद महाराजा ने काश्मीर लेने का विचार किया। १८११ ई० में सिक्ख भीमबाड़ और राजौरी के मुसलमान राजाओं को हराकर एक वर्ष में कुल्लू तक पहुँच गये। कुल्लू पहुँचने पर महाराजा को काबुल के एक मंत्री फतहखाँ से, जो सिन्ध पार करके काश्मीर जीतने के इरादे से बढ़ा चला आ रहा था, अस्थायी सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि में यह तय हुआ कि काश्मीर जीतने के बाद जीत का दो-तिहाई भाग सिक्खों को मिलेगा और एक-तिहाई फतहखाँ को। फतहखाँ सन्धि करके पहाड़ी के एक गुप्त मार्ग से शेरगढ़ और हरि पर्वत पहुँच गया और वहाँ के सरदार को कैद करके वहाँ का स्वामी बन बैठा। यद्यपि सिक्ख भी जीत के समय वहाँ पहुँच गये थे, फिर

भी फतहखाँ ने दो-तिहाई लूट का भाग सिक्खों को देने से इन्कार कर दिया। तब महाराजा ने काबुल के शाह को, जो काश्मीर में कैद था, लाहौर लाकर अटक का किला अपने कब्जे में कर लिया। फतहखाँ को तब अटक की रक्षा के लिये महाराजा के विरुद्ध आना पड़ा। इसी प्रकार अनेक छोटी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ने के बाद १८१९ में सम्पूर्ण काश्मीर प्रान्त महाराजा के अधिकार में आया।

कांगड़ा और उसके आसपास के पहाड़ी जिलों को महाराजा ने १८०९ में ही जीत लिया था। काश्मीर लेने के बाद शेष रियासतें और मुसलमानी-राज्य भी उनके अधिकार में आ गये।

काश्मीर और पेशावर के बीच के छोटे-छोटे राज्य मुसलमान सरदारों के हाथ में थे। यह सरदार व्यक्तिगत रूप से अत्यन्त शक्तिशाली थे, परन्तु असंगठित होने के कारण वह पराक्रमी और विशाल सिक्ख-सेना को परास्त करने में असमर्थ रहते थे। १८२० ई० तक एक-एक करके सभी मुसलमान सरदारों को जीतकर महाराजा सारे पंजाब के स्वामी बन गये। उनका राज्य सतलज से सिन्ध तक था। १८२३ ई० तक पेशावर नगर और प्रान्त भी महाराजा के अधिकार में आ गया।

पेशावर और हजारा जिलों को जीतने में महाराजा को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अफगान लोग 'जिहाद' के नशे में मस्त होकर सिक्खों से लड़ते थे। सिक्खों को उनकी भाँति पहाड़ियों के रास्तों का ज्ञान भी न था। कभी-कभी सेना को रसद तथा अस्त्र-शस्त्र पहुँचाना तक दुष्कर हो जाता था। फिर भी सिक्खों में सरदार हरिसिंह नलवा जैसे बलशाली सरदार थे। सरदार हरिसिंह ने पेशावर और हजारा के कई युद्धों में अफगानों के छक्के छुड़ा दिये थे। अफगानों में उसका आतंक फैल गया था और अफगानी मातायें उसका नाम ले-लेकर बच्चों को डराकर सुलाया करती थीं। सरदार

नलवा वर्षों तक पेशावर में महाराजा के प्रतिनिधि और सेनापति बनकर रहे और १८३६ ई० में उन्होंने खैवर की घाटी के पास स्थित जमरूद नामक स्थान में एक किला वनवाया, जहाँ उनका इरादा ऐसी शक्तिशाली सेना रखने का था, जो घाटी के दूसरी ओर से आनेवाली कितनी भी वड़ी सेना को हिन्दुस्तान में प्रवेश करने से रोक सके। इस किले की रक्षा करते-करते १८३६ ई० में उनका देहान्त हुआ।

यद्यपि इन दिनों महाराजा के राज्य का विस्तार खैवर से लेकर सतलज तक था और सारा पंजाव उनके अधीन था, फिर भी जगह-जगह विद्रोह होते रहते थे। इन उपद्रवों तथा अन्य अशान्तियों के कारण महाराजा का स्वास्थ्य खराव रहने लगा। १८३८ में उन्हें स्नायु-रोग हो गया और यदि वह तव भी शराव पीना छोड़ देते तो शायद यह रोग शीघ्र ही उनका पीछा छोड़ देता, परन्तु उन्होंने शराव नहीं छोड़ी और इसी रोग ने उनकी जान ले ली। कई अंग्रेजी डाक्टरों ने उनका विद्युत् तथा अन्य प्रणालियों से इलाज किया, पर रोग की जड़ें वहुत गहरी चली गई थीं और कोई लाभ न हो सका।

मरने से पूर्व उन्होंने २५ लाख रुपया गरीवों और ननकाना के पुरोहितों में वँटवाया और खड़कसिंह को, जो उनका एकमात्र पुत्र था, अपना उत्तराधिकारी और ध्यानसिंह को प्रधानमंत्री नियुक्त किया। २७ जून १८३९ ई० को उनकी मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु के छः साल वाद ही उनके साम्राज्य का अन्त हो गया। सिक्ख सरदारों की आपस की ईर्ष्या ने इतने श्रम और चतुराई से स्थापित किये महान् राज्य का अन्त इतने अल्प समय में कर दिया। उनके लड़के, पोते तथा स्वामि-भक्त सरदारों का वड़ी क्रूरता से वध कर दिया गया, परन्तु जिन अदूरदर्शी लोगों ने यह कुकर्म किये थे उनकी स्वार्थसिद्धि भी न हो सकी।

उन्हें भी अंग्रेजों की गुलामी स्वीकार करके अपने राज्य का पतन अपने ही हाथों करके, अपनी ही आँखों से देखने को विवश होना पड़ा ।

महाराजा एक वार जिस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा कर लेते थे, उसे किसी भी कीमत पर लेने के लिये तैयार रहते थे । कोहिनूर हीरा, प्रसिद्ध घोड़ी लाली और मुल्तान नगर पर कब्जा, इसके तीन उदाहरण हैं ।

कोहिनूर हीरे का इतिहास विचित्र है । कहा जाता है कि यह प्रसिद्ध हीरा पहले पाण्डवों के पास था । सोलहवीं शताब्दी में यह शाहजहाँ और औरंगजेव के पास आया । वाद में दिल्ली को लूटने के वाद नादिरशाह इसे कावुल ले गया । १८१३ में यह कावुल के भूतपूर्व शाह शाहशुजा के पास था । शाह को उसके भाई ने कावुल से निकाल दिया और वह पंजाव में निर्वासितों की भाँति रह रहा था । कोहिनूर की प्राप्ति के लिये महाराजा ने शाह को लाहौर में आश्रय दिया । और वाद में उसे काफी परेशान करके उससे हीरा छीन लिया । यह हीरा महाराजा को मुफ्त ही में मिल गया । इसीलिये कथा है कि जव महाराजा से किसी ने कोहिनूर की कीमत पूछी तो उन्होंने कहा– 'दो जूती' अर्थात् साहस और वल ।

अफगानिस्तान के सरदार यार मुहम्मद खाँ के पास लाली नाम की एक घोड़ी थी जो अपनी सुन्दरता के लिये दूर-दूर तक प्रसिद्ध थी । उसकी प्रशंसा सुनकर महाराजा ने खाँ से घोड़ी माँगी, पर खाँ ने इन्कार कर दिया । इस पर महाराजा ने अपने एक योग्य सेनापति वुधसिंह को खाँ से घोड़ी छीन लाने को भेजा । वुधसिंह अपने शत्रुओं को परास्त करके जव पेशावर में घुसा तो उसे सूचना मिली कि लाली की मृत्यु हो गयी है । वह निराश हो वापिस लाहौर लौटा, परन्तु उसे

पता चला कि लाली के मरने का समाचार गलत है। तब उन्होंने युवराज खड़कसिंह की अधीनता में एक विशाल सेना फिर पेशावर भेजी।

यार मुहम्मद खाँ सिख-सेना के आने से पूर्व ही घोड़ी लेकर पहाड़ियों में भाग गया। खड़कसिंह ने आठ महीने तक पेशावर में रहकर उसकी बाट देखी। बाद में वह सुल्तान मुहम्मद खाँ को पेशावर का शासक बनाकर लौट आया। उसके लौटते ही यार मुहम्मद खाँ ने सुल्तान को हराकर पेशावर फिर अपने हाथ में ले लिया। तब महाराजा ने कटक-स्थित अपने सेनापति वैनतुरा को खाँ से लड़ने और उससे घोड़ी प्राप्त करने के लिये आदेश दिया। वैनतुरा ने कई युद्धों के पश्चात् लाली को प्राप्त किया और लाहौर में महाराजा के पास भिजवा दिया। लाली को प्राप्त करने में बारह लाख रुपये और १२,००० सैनिकों की बलि देनी पड़ी थी। संसार के इतिहास में यूनान के ट्राय वाले घोड़े के बाद लाली ही ऐसी घोड़ी थी जिसके पीछे इतनी मार-काट और जन-धन का बलिदान हुआ।

घोड़ियों के अतिरिक्त महाराजा को तोपों के संग्रह का भी भारी शौक था। जनरल मेटकाफ के कथनानुसार तोपों का चाव और उनकी पहचान महाराजा को इतनी जबरदस्त थी कि वह तोप प्राप्त करने का कोई अवसर कभी नहीं चूकते थे। जब-जब उन्हें यह मालूम हुआ कि अमुक किले में कोई तोप है, तब-तब उन्होंने उसे लेकर ही छोड़ा।

महाराजा रणजीतसिंह न तो गुरु नानक की भाँति गहन धार्मिक वृत्ति के थे और न गुरु गोविन्दसिंह की भाँति शिक्षित और उच्च आदर्शवादी। उनका ध्येय एक ही था; सिक्ख-राज्य का प्रसार। उनकी सारी युक्ति, बुद्धि और बल सदैव इसी ध्येय-पूर्ति में लगे रहे।

अपने धर्म के प्रति पक्षपात नहीं था। उनके दरवार में कई ब्राह्मण और मुसलमान उच्च पदों पर थे। वह आदमी और उसकी योग्यता को पहले देखते थे, उसकी जाति को वाद में।

महाराजा से पहले सिक्ख-सैनिक पैदल सेना में भरती होना अपनी शान के खिलाफ समझते थे और घुड़सवारी पलटन में ही भरती होत थे। साथ ही उनमें फौजी अनुशासन को मानने की प्रवृत्ति नहीं थी, और तनिक से मतभेद पर वह एक सरदार की सेना छोड़कर दूसरे सरदार की सेना में शामिल हो जाते थे। सिक्ख-सेना की व्यवस्था सुधारने के हेतु ही महाराजा ने अंग्रेजी और अफगानी सेना के संचालन का गौर से अध्ययन किया और कई विदेशी जनरलों, (जिनमें इटालियन जनरल वैनतुरा, फ्रांसीसी जनरल ऐलर्ड प्रमुख थे) को सिक्ख-सैनिकों को नवीनतम प्रणाली से सैन्य-शिक्षा देने के लिये नियुक्त किया। जनरल वैनतुरा ने फौज-खास का निर्माण किया, जिसकी सहायता से महाराजा को पेशावर तथा अन्य पहाड़ी इलाके मिले।

इन जनरलों की शिक्षा के कारण सिक्ख पैदल-सेना अत्यन्त शक्तिशाली बन गई और आज भी संसार में सिखों के समान वीर और कुशल पैदल सैनिक बहुत कम राष्ट्रों में हैं।

अपने शासन-काल में महाराजा ने सिख-सेना का कभी-कभी अमहत्त्वपूर्ण कार्यों के लिये भी प्रयोग किया, और केवल अपना एक चाव पूरा करने के लिये धन-जन की बलि दे दी, लेकिन उनकी विशिष्टता इसमें थी कि उन्होंने सैनिक दृष्टि से अशिक्षित सिक्खों को शिक्षित सैनिक बना दिया। केवल अपनी एक इसी विशिष्टता के कारण सिक्ख सदैव उनके ऋणी रहेंगे।

उनकी मृत्यु के वाद खालसा जाति के उच्चाधिकारी एकदम

बिखर गये। उनमें एकता और सिक्ख-जाति को एकसूत्र में बाँधे रखने की भावना न रही। वह समय अंग्रेजों के लिये भी संकट का काल था। काबुल से लौटते समय उनकी पराजय हो चुकी थी और अंग्रेजी-सेना को पूरी तरह विनष्ट कर दिया गया था। १८४५ ई० में सन्धि को रद्द कर सिक्खों ने सतलज पार करके अंग्रेजों द्वारा अधिकृत भूमि पर आक्रमण किया। चार बार हारकर, अन्त में उन्होंने सन्धि कर ली। पर यह सन्धि भी अधिक समय तक न रही। चिनाब नदी के किनारे गुजरात प्रदेश में लार्ड डलहौजी ने सिक्खों के साथ जो युद्ध किया, वह अपनी विशालता और भीषणता के कारण ब्रिटिश भारत के इतिहास में अद्वितीय है। इस युद्ध में सिक्खों को बुरी तरह हारना पड़ा और आत्मसमर्पण करने को विवश होना पड़ा। इसके बाद फिर सिक्खों की सिर उठाने की हिम्मत नहीं हुई।

यदि सिक्ख रणजीतसिंह द्वारा स्थापित साम्राज्य की सावधानी से रक्षा करते रहते तो यह सम्भव था कि सिपाही-विद्रोह के अवसर पर वे अंग्रेजों को भारत से निकालने में सफल हो जाते।

महारानी लक्ष्मीबाई : ५ :



भारत के इतिहास में वीर और आदर्श नारियों की कथाओं की कमी नहीं है। परन्तु इनमें से अधिकांश नारियाँ ऐसी थीं, जिन्होंने वीरता और साहस के साथ अपने परिजनों को युद्ध में भेजा और पति की मृत्यु हो जाने पर या शत्रु द्वारा घिर जाने पर सती हो गईं। स्वयं युद्ध करके रणभूमि में काम आने के उदाहरण कम हैं।

इन भारतीय आदर्श नारियों के बीच महारानी लक्ष्मीबाई का नाम एक ज्वलन्त सितारे के समान प्रकाशित है। महारानी ने किसी भी वीरपुरुष की भाँति अपने देश और जाति के लिए घोर युद्ध करके रणभूमि में अपने प्राण दिये। इनका जीवन भारतीय महिलाओं और पुरुषों दोनों के सम्मुख एक नया आदर्श उपस्थित करता है।

महारानी लक्ष्मीबाई का जन्म १६ नवम्बर १८३५ ई० में काशी में हुआ था। उनके पिता मोरोपन्त ब्राह्मण थे और सतारा जिले के रहने वाले थे। काशी आने से पूर्व वह बाजीराव पेशवा के भाई चिमाजी के कृपापात्र थे, परन्तु जब लक्ष्मीबाई का (बचपन का नाम मनु था, लक्ष्मी नाम उनके पति का रखा हुआ था।) जन्म हुआ था तब उनकी अवस्था असन्तोषजनक थी।

जब मनु की आयु तीन-चार साल की ही थी, तब उसकी माँ भगीरथी का देहान्त हो गया और उसके पिता बिठूर नामक स्थान में आकर रहने लगे। बालिका मनु का लालन-पालन उसके पिता ने ही किया। उसके खेल-कूद के साथियों में द्वितीय बाजीराव पेशवा के

दत्तक पुत्र नाना साहब और राव साहब थे। स्वयं बाजीराव उसे अत्यन्त प्यार करते थे और 'छबीली' कहकर पुकारते थे। उन्होंने उसे अपने पुत्रों के समान ही अस्त्र-शस्त्र चलाने, घोड़े पर सवारी करने तथा पढ़ने -लिखने की शिक्षा दी। युद्ध-कला में मनु विशेष रूप से प्रवीण हो गई।

जब मनु की अवस्था विवाह योग्य हुई तो एक ज्योतिषी ने मोरो-पन्त से कहा था कि उनकी पुत्री का विवाह किसी राजा से होगा और स्वयं वह भी राज्य करेगी। बेचारे मोरोपन्त को इस भविष्यवाणी के सत्य होने की तनिक भी आशा न थी, परन्तु भविष्यवाणी सच्ची ही निकली और १८४२ ई० में मनु का विवाह झाँसी के राजा गंगाधर राव के साथ सम्पन्न हुआ।

तत्कालीन झाँसी राज्य की स्थापना पेशवाओं ने १७४३ ई० में की थी। उन्होंने इस राज्य में टेहरी राज्य का आधा भाग तथा दतिया राज्य का चौथाई भाग सम्मिलित किया था। यह दोनों छोटे राज्य पहले ओरछा राज्य के अन्तर्गत थे। झाँसी नगर की स्थापना एक राठा सूबेदार तारोशकर ने की थी। झाँसी किले की स्थापना इससे र्वे १६१० ई० में वीरदेवसिंह द्वारा हो चुकी थी।

पेशवाओं के समय में झाँसी का शासक उनके द्वारा नियुक्त राठा सूबेदार होता था। १८१८ में पेशवाई का अन्त हो जाने के ाद और बाजीराव द्वितीय के स्वयं को अंगरेजों को समर्पण कर देने पश्चात् झाँसी अंग्रेजों के हाथ में आ गया।

लक्ष्मीबाई का पति गंगाधरराव अन्तिम सूबेदार था।

गंगाधरराव को झाँसी का राज्य अंग्रेजों के कहने पर मिला था। ग्रेजों की एक शर्त के अनुसार उन्हें अंग्रेजी-फौज अपने खर्च से ाँसी में रखनी पड़ती थी। गंगाधरराव एक कुशल और धर्मभीरु

शासक थे। उनके शासन से अंग्रेज और पेशवा दोनों प्रसन्न थे। लक्ष्मी-बाई भी ऐसा योग्य और उत्तम पति पाकर प्रसन्न थीं।

१८५१ ई० में लक्ष्मीबाई ने एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र-जन्म से गंगाधरराव तथा प्रजा, दोनों को ही महान् आनन्द हुआ। पर जब तीन महीने के बाद ही पुत्र की मृत्यु होगई, तब गंगाधरराव को गहरा धक्का पहुँचा। वे शय्या पर पड़ गये। दिन-पर-दिन उनका रोग बढ़ता ही गया और उनके बचने की कोई आशा न रही।

मृत्यु अवश्यम्भावी देखकर उन्होंने अंग्रेज पोलिटिकल एजेन्ट के सामने आनन्दराव नाम के एक बालक को गोद ले लिया, ताकि उन-के बाद उनके वंश का अन्त न हो जाए। उन्होंने एजेन्ट से यह भी प्रार्थना की कि उनकी मृत्यु के बाद उनकी पत्नी लक्ष्मीबाई को झाँसी की रानी माना जाए और उनके बाद इस दत्तक पुत्र को गद्दी मिले।

१८५३ ई० की २१ नवम्बर को गंगाधरराव की मृत्यु होगई और १८ साल की अल्पायु में ही लक्ष्मीबाई को वैधव्यावस्था का दुःख भोगना पड़ा। इस दुःख के साथ-ही-साथ उन्हें एक दुःख और सहन करना पड़ा। पति की मृत्यु के बाद अंग्रेजों ने गंगाधरराव की प्रार्थना की उपेक्षा करके झाँसी के किले और खजाने को अपने कब्जे में कर लिया। कुछ दिन बाद महारानी का यह आज्ञा मिली कि झाँसी ब्रिटिश-राज्य में शामिल कर लिया गया है और अब उस पर महारानी या उनके दत्तक पुत्र का कोई अधिकार नहीं रहेगा। पैन्शन के तौर पर उन्हें ५०००) रु० सालाना मिल जाया करेंगे।

पुनः झाँसी के राज्य की बागडोर हाथ में लेने पर रानी ने एक साल आठ दिन तक वहाँ शासन किया। इस अवधि में निम्न मुख्य

१. ९ जून १८५७ से ४ अप्रैल १८५८ तक अंग्रेजों के जनरल ह्यू रोज से संघर्ष और किले की रक्षा।

२. ५ अप्रैल १८५८ से २३ मई १८५८ तक झाँसी से भागकर बुन्देलखंड में ह्यू रोज से लड़ाई।

३. १ जून को ग्वालियर के किले की जीत और उसकी रक्षार्थ संघर्ष और अन्त में इसी संघर्ष में मृत्यु।

विस्तार में यह घटना-क्रम इस प्रकार था—

१८५४ ई० में झाँसी में पूरी तरह अंग्रेजी-राज्य स्थापित हो चुका था। अंग्रेज कलैक्टर, अंग्रेज जज और पुलिस अधिकारी रहने लगे थे। झाँसी राज्य बहुत छोटा था, और ७०० गाँवों वाले उस राज्य की वार्षिक आमदनी साढ़े सात लाख रुपये से अधिक नहीं थी। लक्ष्मीबाई को ५००० रु० वार्षिक पेन्शन मिलने लगी। इस राशि में से उन्हें सारे महल के खर्चे चलाने पड़ते थे तथा अपने मृत पति का कर्जा भी निपटाना पड़ता था। उन्होंने कई बार अंग्रेज अधिकारियों के निर्णय के विरुद्ध प्रार्थनापत्र भेजे, पर उनका कोई फल न निकला। उन्होंने श्री उमेशचंद्र बनर्जी तथा एक अंग्रेज वकील जॉन लौंग को इंग्लैंड भी भेजा, पर कम्पनी के मालिकों ने प्रत्येक बार उनकी प्रार्थनाओं को अस्वीकृत कर दिया।

जॉन लौंग ने एक स्थल पर महल में रानी से भेंट का वर्णन किया है। वह लिखता है—"··'उनका कद मध्यम था। वह बहुत स्वस्थ दीखती थीं परन्तु आवश्यकता से अधिक स्वस्थ नहीं। उनको देखने से ही ज्ञात हो जाता था कि अपनी नवयुवावस्था में वह अवश्य सुन्दरी रही होंगी, उस समय भी उनके चेहरे पर विगत सौन्दर्य के चिह्न अंकित थे। उनका चेहरा गोल था। उनकी मुखमुद्रा से उनकी आँखें असाधारण रूप से सुन्दर थीं और नाक भी सुगठित थी। बातों-बातों

में उन्होंने कई बार कहा—"मैं अपनी झाँसी नहीं दूंगी' ।"

भारतीय सेना भंग होने के वाद, लक्ष्मीवाई राजमहल में अपने दत्तक पुत्र के साथ पूजापाठ करके अपना समय व्यतीत करने लगीं ।

सन् १८५५ और १८५६ इसी प्रकार व्यतीत हुए ।

१८ मई १८५७ ई० को मेरठ और दिल्ली में सिपाही-विद्रोह आरम्भ हो गया । ५ जून को झाँसी में भी भारतीय सैनिकों ने, जो अंग्रेजों के अधीन थे, विद्रोह आरम्भ कर दिया और ७ जून तक झाँसी के सारे अंग्रेजों का सफाया कर दिया गया । वहाँ के विद्रोहियों का नेता हवलदार गुरुवख्श था । उसने झाँसी के किले पर अधिकार कर उसे फिर स्वतन्त्र कर दिया ।

झाँसी स्वतन्त्र करके विद्रोहियों ने दिल्ली जाने की ठानी । जाने का खर्च माँगने के लिये जव वह महारानी के पास गये तो महारानी ने एक लाख रुपये की कीमत के अपने आभूषण उन्हें दे दिये ।

उन दिनों झाँसी के सिपाहियों का नारा था, "खल्क खुदा क़ा, मुल्क बादशाह का, अलम महारानी लक्ष्मीवाई का !" किले पर से अंग्रेजी-सेना के हट जाने के वाद झाँसी का शासन-भार महारानी ने अपने हाथों में ले लिया था ।

परन्तु शासन करते कुछ ही दिन वीते होंगे कि सदाशिव नाम का एक व्यक्ति अपने को झाँसी का शासक बताकर झाँसी में प्रवेश करने लगा । महारानी ने उसे हराकर खदेड़ दिया । एक बार फिर इस व्यक्ति ने झाँसी पर आक्रमण किया, किंतु दुबारा भी उसे मुँह की खानी पड़ी । ओड़छा राज्य का दीवान भी झाँसी पर आँख लगाये वैठा था । महारानी के गद्दी पर वैठते ही वह साठ हजार की सेना को लेकर महारानी से लड़ने आया । उसने किले को चारों ओर से घेर लिया था, परन्तु इस युद्ध में स्वयं महारानी ने मर्दाने कपड़े पहन

कर युद्ध-संचालन किया और दो दिन के भीषण युद्ध के बाद दीवान साहब के पैर उखाड़ दिये।

इन दो शत्रुओं को परास्त करने के बाद, निर्भय होकर महारानी ने अपना ध्यान सेना के जमाव और संगठन तथा शासन-प्रबन्ध को सुधारने में लगाया। दस महीने तक किसी शत्रु का साहस झाँसी की ओर देखने का भी न हुआ और उनके इस दस महीने के शासन काल में प्रजा ने उसी सुख और शांति का अनुभव किया जो वह गंगाधरराव के शासन-काल में करती थी। उन दिनों महारानी की पोशाक विचित्र रहती थी। लाल और मोतियों से जड़ी रेशमी टोपी, ढीला पायजामा, कमर तक फैली कंचुकी। कमर में दो पिस्तौल, जो चाँदी से मढ़े थे। चोली और चादर, गले में हीरों की माला।

महारानी न केवल योद्धा ही थीं, शासन करने योग्य बुद्धि भी के पास पर्याप्त थी। उनके न्याय तथा उनकी दया से गरीब और र सब खुश थे। सैन्य-संचालन में तो वह किसी भी दक्ष पुरुष पति का मुकाबला कर सकती थीं। घुड़सवारी और तलवार चलाने ो उनका मुकाबला करने वाले अंग्रेजी-सेना में भी विरले ही थे।

जब महारानी ने अंग्रेजी-सेना से युद्ध आरम्भ किया, तब उनकी में अधिकाँश सैनिक नए और अनुभवहीन थे, क्योंकि अनुभवी ाक झाँसी को स्वतन्त्र करके दिल्ली की ओर चले गये थे। परन्तु र भी महारानी ने उन्हें काफी शिक्षित कर दिया था।

ह्यू रोज के पास सैनिकों और साधनों की कमी न थी। उसने े को चारों ओर से घेरकर तोपों से गोलाबारी आरम्भ कर दी। ारानी ने भी इस गोलाबारी का उत्तर गोलाबारी से ही दिया। ले दिन अंग्रेजों को बढ़ना कठिन हो गया और उन्हें व्यूह-परिवर्तन ने को विवश होना पड़ा। इसी समय महारानी की ओर का

एक देशद्रोही सैनिक अंग्रेजों से जा मिला और उसने अंग्रेजों को बता दिया कि किस ओर से गोलाबारी करने से किले को अधिक हानि पहुंचाई जा सकती है।

२५ और २६ मार्च को अंग्रेजों ने उसी स्थान से गोलाबारी करके किले को काफी हानि पहुँचाई, परन्तु २६ मार्च की शाम को महारानी के एक सरदार गुलाम गौस ने निशाना मारकर अंग्रेजी तोप चलाने वाले को ही ठंडा कर डाला। अब तोपें महारानी की ओर से चलने लगीं ३१ मार्च तक इसी प्रकार दोनों ओर से तोपें चलती रहीं और अंग्रेज क़िले में प्रवेश करने में असमर्थ रहे।

इधर महारानी वीरता से किले की रक्षा कर रही थीं, उधर उन्होंने अपने बचपन के साथी रावसाहब, जो नाना साहब के भाई थे, और बाजीराव पेशवा के दत्तक पुत्र, के पास सहायता की प्रार्थना भी भिजवा दी थी। महारानी की सहायता के लिये तांत्या टोपे बीस हजार सैनिकों को लेकर पहली अप्रैल को झाँसी जा पहुंचा। तांत्या टोपे ने कई युद्धों में अंग्रेजों को परास्त किया था, परन्तु उसे झाँसी में अंग्रेजों से स्वयं परास्त होना पड़ा। हारकर और लज्जित होकर वह कालपी लौट गया।

इस हार से महारानी को बड़ी निराशा हुई, परन्तु उन्होंने फिर भी युद्ध चालू रखा। हतोत्साहित सैनिकों से उन्होंने कहा कि उन्हें अंग्रेजों से विजय अपने ही साहस और बल से प्राप्त करनी है। सैनिकों ने पुनः उत्साहित होकर युद्ध आरम्भ किया, परन्तु अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति के विरुद्ध वह कहाँ तक टिकते। तेरह दिन के बाद झाँसी पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया।

नगर में अंग्रेजों के प्रवेश करते ही महारानी अपने डेढ़ हजार स्वामिभक्त अफगानी सिपाहियों को लेकर किले से बाहर आगईं,

और अंग्रेजों से युद्ध करने लगीं। इस बार किसी भी पक्ष के पास तोपें न थीं, तलवारों का युद्ध था। इस युद्ध में अंग्रेजों को भागना पड़ा। ये दूर भागकर गोलियाँ चलाने लगे। महारानी को गोलियों से अपनी रक्षा करने के लिये फिर किले में आना पड़ा।

उनके किले में जाते ही अंग्रेजों ने किले को घेर कर भीषण गोलाबारी आरम्भ कर दी। इस गोलाबारी में महारानी के कई वीर सरदार काम आये। सैनिकों की संख्या भी बहुत कम रह गई। तब महारानी ने किले को छोड़ना ही उचित समझा और दस-बारह सैनिकों और अपने दत्तक पुत्र के साथ वह किले से बाहर निकल गईं। अंग्रेजों ने उन्हें निकलते देख लिया और लैफ्टिनेंट बौकर ने उनका पीछा किया। परन्तु बराबर एक दिन पीछा करते रहने पर भी वह महारानी को पकड़ने में सफल न हो सका।

दूसरे दिन जब महारानी अपने पुत्र को खाना खिलाने के लिये मंडारे नाम के गाँव में रुकीं, तो बौकर ने अपने सैनिकों सहित आकर उन्हें घेर लिया। महारानी ने वीरता के साथ शत्रु का सामना किया, और बौकर को बुरी तरह घायल किया। घायल बौकर अकेला ही झाँसी वापिस आया, और इधर १०३ मील का फासला चौबीस घण्टे में घोड़े पर तय करके महारानी कालपी पहुँच गईं।

कालपी के किले में रावसाहब पेशवा तांत्याटोपे को साथ ले अंग्रेजों से युद्ध करने की तैयारी कर रहे थे। लक्ष्मीबाई को देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। महारानी ने भी इस युद्ध की तैयारी में अपना पूर्ण सहयोग दिया।

२५ अप्रैल को अंग्रेज लोग कालपी को जीतने के लिये बढ़े। महारानी ने रावसाहब और तांत्याटोपे से बार-बार कहा कि अंग्रेजों की जीत का कारण उनकी सेना का सुसंगठन है, अतएव उन्हें भी अपनी सेना को

उनके समान सुसंगठित करना चाहिये। परन्तु उनके बार-बार कहने और प्रयत्न करने पर भी सेना को उनकी इच्छानुसार संगठित नहीं किया जा सका।

कौंच में विद्रोहियों को परास्त कर अंग्रेज सेनापति ह्यू रोज आगे बढ़ा। आगे बढ़ने पर उसकी सेना की मुठभेड़ रावसाहब और तांत्या टोपे की सेना से हुई। अंग्रेजों के पास तोपें और बन्दूकें पर्याप्त थीं। उनकी गोलाबारी के सामने मराठा-सैनिक नहीं टिक सके। जब वे भाग रहे थे, तब महारानी २५० सुशिक्षित घुड़सवारों के साथ आगे आईं और सीधे अंग्रेजों के सिर पर सवार होकर उनका अन्त करने लगीं। घोड़े की लगाम उन्होंने उस समय दाँतों में भींच ली थी और दोनों हाथों से तलवार चला रही थीं। उनके इस आकस्मिक आक्रमण से अंग्रेज घबरा गये और गोलाबारी करना भूल गये। मराठे सैनिकों का भी साहस बढ़ा, और वे पलटकर पुनः युद्ध करने लगे। बढ़ते-बढ़ते महारानी अंग्रेजी तोपखाने से कुछ ही गज की दूरी पर रह गईं। यदि मराठों के पास भी तोपें होतीं तो वे इस समय अवश्य जीत जाते, परंतु तलवार तोपों और बन्दूकों के सामने कहाँ तक चलती रह सकती हैं? अंग्रेजों ने जब पुनः तोपें चलानी आरम्भ कीं तो मराठों में खलबली मच गई और महारानी के बहुत उत्साहित करने पर भी उनके पाँव जमे न रह सके। लाचार, महारानी को भी इन सनिकों के साथ वापस लौटना पड़ा। २४ मई को कालपी पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया। रावसाहब और लक्ष्मीबाई अपने सरदारों के साथ अंग्रेजों के किल में प्रवेश करने से पूर्व ही भाग निकले थे। भागकर ये सब गोपालपुर पहुँचे।

गोपालपुर में सबने विचार-विमर्श किया कि आगे क्या हो? झाँसी और कालपी के दुर्ग हाथ से निकल जाने के बाद अब ग्वालियर का

किला शेष रह गया था, जिस पर अधिकार करके स्वतन्त्रता के युद्ध को जारी रखा जा सकता था। महारानी ने इस किले पर अधिकार कर लेने का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का सभी ने समर्थन किया, और इसकी तैयारियाँ शुरू कर दी गयीं।

इन लोगों के पास धन, सैनिक तथा अस्त्र-शस्त्र, सभी वस्तुओं की बड़ी कमी थी। कमी नहीं थी तो केवल मानसिक साहस की। इसी साहस के बल पर उन्होंने साधनों की कमी होते हुए भी ग्वालियर के किले को जीतने का निश्चय कर लिया।

ग्वालियर के राजा उस समय अंग्रेजों के साथ थे, परन्तु उनकी सेना उनके तथा अंग्रेजों के विरुद्ध थी। ताँत्याटोपे ने इन सिपाहियों को अपनी ओर कर लिया। उनकी सहायता से ग्वालियर के किले को लेने की योजना बनने लगी।

इसी बीच तांत्याटोपे, तथा महारानी के ग्वालियर के समीप आगमन की सूचना ग्वालियर-नरेश को मिल गई और उन्होंने एक रात को उनकी सेना पर अचानक आक्रमण कर दिया। पहले इस आकस्मिक आक्रमण से घबराकर महारानी की ओर के सैनिक भागने लगे, परन्तु जब स्वयं महारानी रण-भूमि में उतर आईं तो उनका भय दूर हुआ और उन्होंने भी उत्साहित हो लड़ना आरम्भ किया। महारानी से लड़ने के लिए स्वयं ग्वालियर नरेश महाराजा जयाजीराव युद्धक्षेत्र में आये, परन्तु महारानी ने उन्हें ऐसा खदेड़ा कि उन्होंनेग्वालियर से भागकर सीधा आगरे पहुँचकर ही दम लिया। ग्वालियर पर कालपी की सेना का अधिकार हो गया।

परन्तु ग्वालियर के किले पर अधिकार किये कुछ ही दिन बीते थे कि मराठों को फिर ह्यू रोज की सेना का सामना करना पड़ा। ह्यू रोज जयाजीराव को साथ लेकर १६ जून को बहादुरपुर पहुँचा, जहाँ

ग्वालियर नरेश ने मुंह की खाई थी। बहादुरपुर और मुरार पर अधिकार करने के बाद अंग्रेज ग्वालियर की ओर बढ़े।

ग्वालियर को अंग्रेजों ने चारों ओर से घेर लिया था। पूर्व दिशा की रक्षा का भार महारानी ने अपने ऊपर लिया। मरदाना वेश में अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो वह लड़ने निकलीं। यह उनका अन्तिम युद्ध था। इसी युद्ध की गाथा कवियित्री सुभद्रा कुमारी चौहान ने गायी है और महारानी के विषय में उनकी कविता की यह पंक्ति…

"खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी"

तो हिन्दी में महारानी के नाम के साथ अमर हो गई हैं।

इस बार अंग्रेजों के आगे बढ़ते ही महारानी ने इन पर अपनी ओर से ही गोलाबारी आरम्भ कराई। जब अंग्रेज पीछे हटने लगे, तब वह उन पर टूट पड़ीं। पहले दिन संख्या में कई गुने होने पर भी अंग्रेज सैनिक अपने शत्रुओं से परास्त हुए।

अगले दिन ह्यू रोज ने रावसाहब को हराकर गिरफ्तार कर लिया। महारानी फिर भी युद्धक्षेत्र में डटी रहीं। जब उनके तोपखाने पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया तब वह तलवार से ही युद्ध करती रहीं। एक-एक करके जब उनके सब सरदार और सैनिक स्वर्गवासी होने लगे, तब वह तलवार चलाती-चलाती शत्रुओं के बीच से बाहर निकलीं। निकलते समय एक गोली उनकी पीठ में लगी, जिसने उन्हें अशक्त कर दिया। इसी समय उनका घोड़ा भी एक नाले के सामने अड़ गया। पीछे से एक घुड़सवार ने उन पर ऐसी तलवार चलाई कि उनके सिर का दाहिना अंग अलग हो गया और उनकी आँखें बाहर निकल आयीं। एक दूसरे सिपाही ने उनकी छाती में किरच भोंक दी। ऐसी अवस्था में भी महारानी ने अपने एक आक्रमणकारी को तलवार के सहारे मौत के घाट उतार ही दिया। दूसरा सिपाही भी डर के मारे

वहाँ टिका न रह सका।

मरने से पूर्व वह कह गईं थीं कि मरने के तुरन्त वाद ही उनका दाह-क्रिया-संस्कार कर दिया जाये, ताकि शत्रु उनके शव का स्पर्श भी न कर सकें। यही हुआ भी, और उनके मरने के पश्चात् उनके शव का स्पर्श तक उनके शत्रु न कर सके। उनकी घायल अवस्था में उनका एक स्वामिभक्त सैनिक उन्हें एक झोंपड़ी में ले गया था। वहाँ ही वह स्वातन्त्र्य-दीप-शिखा विलीन हुई।

महारानी के अन्त समय का सवसे अधिक प्रामाणिक वर्णन वह है, जो उनके नौकर ने २० जून १८५८ को उनकी मृत्यु के तीन दिन वाद झाँसी के पोलिटिकल एजेंट के सम्मुख किया। उसने कहा—"उस दिन महारानी के सैनिकों की पोशाक लाल रंग की पगड़ी, लाल रंग की सिलवार और लाल रंग की जैकेट थी। इस पोशाक में, दूर से सैनिकों के वारे में यह जानना कठिन हो जाता था कि वे स्त्रियाँ हैं या पुरुप?"

"१७ जून की शाम को वे अपने ४०० सनिकों तथा एक दासी के साथ, जिनकी पोशाक उनकी पोशाक से विल्कुल मिलती थी, वैठी शरवत पी रही थीं। इसी समय उन्हें सूचना मिली कि अंग्रेजों ने मुरार-ग्वालियर सड़क पार करके दक्षिण की ओर से आक्रमण कर दिया है।

"रानी कुछ तैयारी करें, इसके पूर्व ही चालीस-पचास अंग्रेज घुड़सवार हाथों में तलवारें लिये वहीं आ धमके। उनके आते ही रानी के सव सैनिक, पन्द्रह को छोड़, जो उनके साथ रहे, वहाँ से भाग गये। रानी भी तुरन्त घोड़े पर सवार होकर भागीं। उनके घोड़े ने वहाँ से नहर पार करने में कुछ देर की और उसी वीच उन्हें एक गोली लगी। गोली लगने के लगभग साथ ही एक अंग्रेज घुड़सवार की तलवार

उनके माथे पर लगी। लेकिन रानी ने इन आघातों को सहकर भी, अपने घोड़े को आगे बढ़ाया। परन्तु भाग्य उनके साथ न था, और अगले ही क्षण वे घोड़े पर से गिर पड़ीं, और गिरते ही उनके प्राण निकल गये। उनके नौकर अविलम्ब उनके शव को पास के एक बाग में ले गये, और वहाँ फूस के एक ढेर पर उसे रखकर उसमें आग लगा दी।"

एक अंग्रेज अधिकारी की पत्नी ने, जो इस आक्रमण के समय घटना-स्थल पर उपस्थित थी, रानी के अन्तिम क्षण का वर्णन इस प्रकार किया है:—

"जिस अंग्रेज घुड़सवार ने रानी के माथे पर तलवार चलाई थी, उसे यह ज्ञान न था कि वह रानी पर आक्रमण कर रहा है। पर मैंने बाद में सुना कि उसकी मृत्यु तलवार के उस आघात से नहीं, बल्कि गोली लगने से हुई। सर ह्यू रोज से मुझे यह भी मालूम पड़ा कि वह युद्धक्षेत्र में गोली खाकर भी नहीं गिरीं, वल्कि घोड़े पर सवार हो एक अन्य स्थान पर पहुँचीं, जहाँ उन्होंने अपने सेवकों को आदेश दिया कि उनके देहावसान के तुरन्त बाद उनके शव को जला दिया जाये। मैंने यह भी सुना कि घायल होते हुए भी उन्होंने अपनी चिता बनाने में सहायता दी और स्वयं उसमें आग भी लगाई। मैं तो इस असाधारण साहस की कल्पना से दंग रह जाती हूँ।"

कुछ इतिहासज्ञों के अनुसार महारानी की मृत्यु का यह दूसरा वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है। परन्तु इतना तो सत्य है कि उन्होंने मरने से कई दिन पूर्व यह इच्छा प्रकट की थी कि वह अंग्रेजों के हाथों पड़ने की अपेक्षा सती होना पसन्द करेंगी। और यह भी सत्य है कि उनकी यह इच्छा पूर्ण हुई।

फ़ुलवाग (ग्वालियर के उस बाग) में, जहाँ रानी का अन्तिम संस्कार सम्पन्न हुआ था, उनकी स्मृति में तीस वर्ष पूर्व एक 'छतरी, का निर्माण करा दिया गया था। यहाँ हिन्दी तथा अंग्रेजी में महारानी का परिचय एक शिला पर अंकित ह। हिन्दी में वह शिलालेख इस प्रकार है——

महारानी लक्ष्मीवाई का संक्षिप्त परिचय

"इस भारतीय स्त्रीरत्न का जन्म विक्रम संवत् १८९१ कार्तिक वदी १४ को वनारस के एक महाराष्ट्र ब्राह्मण के घर हुआ था। आपका वचपन का नाम मनुवाई, माता का नाम भागीरथी वाई और पिता का नाम मोरोपन्त ताँवे था। आपका विवाह झाँसी के राजा गंगाधर-राव नेवलकर के साथ हुआ। पति की मृत्यु के पश्चात् आपने झाँसी-राज्य का कार्य वड़ी योग्यता के साथ किया, जिसकी आमदनी उस समय लगभग वीस लाख की थी। आप वड़ी प्रभावशालिनी थीं, और सारी प्रजा आपका वहुत आदर और मान करती थी। अंग्रेज सरकार के साथ आपका मित्रतापूर्ण व्यवहार रहा, परन्तु औरस पुत्र न होने के कारण दत्तक पुत्र न लेने की सम्मति देते हुए अंग्रेज-सरकार ने झाँसी-राज्य को जब्त कर लिया, जिससे आप वहुत निराश हुईं और विक्रम संवत् १९१४ के सिपाही-विद्रोह में आप विद्रोहियों से मजवूरन मिल गईं। दस दिन तक झाँसी के किले से आपने अंग्रेजी-सेना से घनघोर युद्ध किया। आखिर में आप ग्वालियर आईं और वहाँ भी आपने वड़ी वीरतापूर्वक अंग्रेजी-सेना से युद्ध किया और छव्वीस वर्ष की युवावस्था में ही विक्रम संवत् १९१५ ज्येष्ठ सुदी ७ को वीरगति को प्राप्त हुईं। आपके साथियों ने इसी स्थान पर घास की गंजी में भक्तिपूर्वक आपका दाह-संस्कार कर आपके नाम को अजर-अमर वना दिया।"
मध्यभारत के प्रसिद्ध अंग्रेज सेनापति सर ह्यू रोज ने आपके सम्बन्ध में

यह स्पष्ट कहा था कि "शत्रु दल में सब से योग्य नेता झाँसी की रानी हैं।"

प्रसिद्ध आंग्ल कवि टैनीसन की एक कविता की कुछ पंक्तियों को बदलकर महारानी के स्मारक पर यह भी लिखा जा सकता है--

"ओ भारतीय रक्त से प्लावित होकर पल्लवित हुई वाटिका ! तेरी ही गोद में, युद्ध में अंग्रेजों के हाथ से, हमारी महारानी का अन्त हुआ।"



: ६ :

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्द अपने युग के सबसे बड़े सुधारक और आर्य-संस्कृति के उद्धारक थे। उनके समकालीन अनेक सुधारक हुए, किन्तु आर्य-संस्कृति के प्राचीन तत्वों की रक्षा करते हुए नवीन युग की श्रेष्ठता का समन्वय दयानन्द के अतिरिक्त किसी सुधारक ने नहीं किया।

अन्य सम्प्रदायों के तीव्र समालोचक होते हुए भी जितनी विशाल लोकप्रियता स्वामी दयानन्द ने प्राप्त की, किसी दूसरे व्यक्ति को शायद ही प्राप्त हुई होगी। मध्यकाल के सन्तों की वाणी और वेदान्त के गूढ़ सूत्रों का ठीक अर्थ न जानने के कारण उस समय भारत के सर्वसाधारण में घोर निष्क्रियता फैल गयी थी और अज्ञान ने घर कर लिया था। इस अज्ञान और अज्ञान-जन्य नैष्कर्म्य को दूर करना ही स्वामी दयानन्द के जीवन का लक्ष्य बन गया और उन्होंने कठिन साधना से इस लक्ष्य को पूरा किया, हिन्दू जाति को मिटने से बचाया। हमारा विश्वास है कि यदि स्वामीजी न होते तो भारत के शिक्षित समाज का बहुमत ईसाइयत के रंग में पूरी तरह रंग जाता और नये विज्ञान-युग की आँधी में भारतीय संस्कृति का प्राचीन गौरव नष्ट हो जाता।

आदर्श सन्यासी होने के कारण स्वामीजी अपने पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों के नाम और ग्राम का विस्तृत परिचय नहीं देते थे। अपने जन्म देश का वर्णन करते हुए उन्होंने केवल इतना ही कहा था कि मेरा जन्म मच्छुकाँटा नदी के किनारे मोरवी राज्य के एक कस्बे में

संवत् १८८१ में हुआ था। मोरवी-राज्य में टंकारा नामक ग्राम है। यहीं आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम कर्षन जी था। कर्षन जी बड़े भूमिधर थे। स्वामी दयानन्द का प्रथम नाम मूलजी था। लोग इन्हें दयाल जी कहकर भी पुकारा करते थे।

इस समय ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन के प्रतिनिधि लार्ड एम-हर्स्ट थे। भारत में सर्वत्र विप्लव और अशन्ति के चिह्न नजर आ रहे थे। सामाजिक दशा अति शोचनीय थी। जाति-विद्रोह ने घोर रूप धारण कर लिया था। ईसाई-धर्म के प्रचारक समस्त भारत को ईसाई बनाने के लिए यत्नशील थे। पश्चिमी सभ्यता में दीक्षित नव-शिक्षितों को ईसाई बनाने में पादरी लोगों को पूरी सफलता मिल रही थी।

बालक दयानन्द को शैव-धर्म की दीक्षा मिली थी। उनके पिता औदीच्य ब्राह्मण थे और पक्के शिवोपासक थे। इसलिए शैव-सम्प्रदाय के नियम पालन करने के लिये बालक दयानन्द को भी बाधित किया गया।

बालक दयानन्द ने जब १४ वर्ष की आयु को पार किया, तब उन्हें नया ज्ञान मिला। इस घटना ने उनके जीवन को नया रूप दे दिया। माघ वदी १४ को महाशिवरात्रि के दिन स्वामी दयानन्द भी अपने पिता के साथ शिवालय गये। उन्हें समझाया गया कि आज रात भर आपको जागरण करना होगा। सब लोग सो गये, किन्तु स्वामी जी जागते रहे। उन्होंने देखा, शिवलिंग पर चूहे चढ़ आये हैं और मूर्ति पर चढ़ाये गये मिष्टान्न को खा रहे हैं। इस घटना से स्वामीजी का मन अनेक शंकाओं से घिर गया। उन्हें शिवभक्ति पर अनास्था हो गई और मूर्तिपूजा एक प्रवंचना प्रतीत होने लगी। अंतरात्मा में स्वभावतः एक संघर्ष पैदा हुआ। पिता ने अनेक युक्तियों से समाधान करना

चाहा, किन्तु बालक दयानन्द का सन्देह दूर नहीं हुआ। उन्होंने अनशन-व्रत भी तोड़ दिया और मूर्तिपूजा का भी परित्याग कर दिया।

सन्देह का यह बीज वेदान्तों के अध्ययन के साथ और भी गहरा होता गया। सं० १८९६ वि० में जब वे सोलह वर्ष के थे, उन्हें अपनी चौदह वर्षीया छोटी बहिन की अकालमृत्यु भी देखनी पड़ी। बालक दयानन्द के लिये यह मृत्यु अमरसाधना का नया सन्देश लाने वाली थी। इस मृत्यु ने उन्हें मृत्युंजय बनने का आदेश दिया। वे जन्म-मृत्यु के दारुण दुख से सदा के लिए छूटने का उपाय सोचने लगे।

वैराग्य का यह सूत्र प्रबल होता गया और जब उनके माता-पिता ने दयानन्द के विवाह का संकल्प किया तब इस वैराग्य का परिणाम प्रकाश में आया। आपने विवाह करना अस्वीकार कर दिया और काशी जाकर शास्त्रानुशीलन करने की आज्ञा माँगी। अपने माता-पिता से आपने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि विवाह में मुझे कोई रुचि नहीं। पिता को दयानन्द की यह बात अच्छी न लगी। उनका आग्रह बढ़ता चला गया।

इधर विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं और उधर सम्वत् १९०२ में दयानन्द बाईस वर्ष की अवस्था में यह कहकर विवाहोत्सव से सुशोभित घर से निकल पड़े कि "अब म लौटकर न आऊँगा।" गृह-त्याग की पहली रात्रि आपने अपने नगर से छः कोस के अन्तर पर व्यतीत की। इसके बाद प्रतिदिन आगे बढ़ते गये। ग्राम-ग्राम और नगर-नगर चलते हुए आप अहमदाबाद से बड़ौदा नगर में आये। वहाँ आपकी भेंट चैतन्य मठ के संन्यासियों से हुई। वहाँ से चलकर आप सत्य के परिशोध में अनेक आश्रमों और मठों में गये। संतों के सत्संग में और विद्या-विनोद में ही आपका समय बीतता था। नर्मदा

तट पर आपने इस प्रकार डेढ़ वर्ष व्यतीत किया।

जिस समय आपकी आयु चौबीस वर्ष दो मास की थी तब चाड़ोंद ग्राम से डेढ़ कोस के अन्तर पर जंगल में एक दाक्षिणात्य दंडी स्वामी से भेंट हुई। दंडी जी का शुभ नाम पूर्णानन्द सरस्वती था। युवक दयानन्द ने दंडीजी से संन्यास लेने की प्रार्थना की। दंडीजी ने स्वामीजी का विधिपूर्वक सन्यास कराया और उनका नाम दयानन्द सरस्वती घोषित किया। स्वामी पूर्णानन्द जी शृंगेरी मठ से द्वारिका जाते हुए मार्ग में चाड़ोंद ठहर गये थे। सन्यास लेने के वाद यतियों-मुनियों से मिलते हुए वैशाख सं० १९१२ में होने वाले कुम्भ के मेले में पधारे। उस समय उनकी आयु वत्तीस वर्ष की थी। कुम्भ के अनाचारों को देखकर आपको पौराणिक रीति-नीति से अत्यन्त अरुचि हो गई और आपने समाज की कुरीतियों को दूर करने का संकल्प किया। कुम्भ के वाद आप टेहरी पधारे और केदार-घाट पर एक मन्दिर में आसन लगाया। वहाँ आप वहुत दिनों तक हिममंडित हिमालय की पर्वत-मालाओं में भ्रमण करते रहे। आप बद्रीनारायण भी गये और वहाँ से देश के अन्य तीर्थों का भ्रमण किया। इसके बाद वर्षपर्यन्त नर्मदा तट पर पर्यटन करते रहे। इस बीच अनेक सन्तों का सत्संग हुआ। किन्तु कोई सच्चा गुरु न मिला। अन्त में उनकी साधना पूरी हुई और उन्हें मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी मिले। स्वामी विरजानन्द जी मथुरा में रहकर अलवर के राजा विनयसिंह जी को पढ़ाते थे। अतिरिक्त समय में वे अपनी पाठशाला में अन्य विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। इसी पाठशाला में स्वामी दयानन्द ने भी दीक्षा ली।

कार्तिक सुदी २ संवत् १९१७ को स्वामी दयानन्द सरस्वती विरजानन्द जी के शिष्य वने और उनसे अध्ययन प्रारम्भ किया।

स्वामीजी के भोजन और ग्रंथादि के विषय में मथुरा के एक निवासी अमरलाल ने सहायता की। विश्राम-घाट के ऊपरी भाग में स्थित लक्ष्मीनारायण के मन्दिर के नीचे एक छोटी-सी कोठरी में स्वामी दयानन्द जी रहते थे। वह इतनी छोटी थी कि स्वामी जी कठिनता से पाँव पसारकर वहाँ सो सकते होंगे।

गुरु की ताड़ना-तर्जना को स्वामीजी कृपा ही मानते थे। एक दिन स्वामी विरजानन्दजी ने आवेश में आकर श्री दयानन्द जी पर लाठी का प्रहार किया। उनकी भुजा पर कड़ी चोट आई, किन्तु पीड़ा का कोई ध्यान न करके उन्होंने गुरुजी से कहा—"महाराज, मेरा शरीर कठोर है और आपके हाथ कोमल हैं। मारने से आपको कष्ट होता होगा, इसलिए मुझे मारा न कीजिए।" उस दिन के घाव का चिह्न उनकी भुजा पर जीवन-भर बना रहा। वे उसे जब देखते थे, गुरुजी के उपकारों का स्मरण करने लग जाते थे। ढाई वर्ष तक स्वामीजी ने महात्मा विरजानन्द जी के चरणों में बैठकर शास्त्रों का अध्ययन किया। दीक्षांत के समय स्वामी विरजानन्द शिष्यों से लौंग की भेंट लिया करते थे, किन्तु जब स्वामी दयानन्द गुरु-दक्षिणा लेकर पहुँचे तो स्वामी विरजानन्द ने कहा—"मैं तुमसे दूसरी ही गुरु-दक्षिणा चाहता हूँ। भारत में दीन-हीन जन अनेक विध दुख पा रहे हैं। जाओ, उनका उद्धार करो! मत-मतान्तरों के कारण जो कुरीतियाँ प्रचलित हो गई हैं, उन्हें निवारण करो। आर्य-जनता की बिगड़ी हुई दशा को सुधारो। आर्य-सन्तान का उपकार करो। ऋषि-शैली प्रचलित करके वैदिक-ग्रन्थों के पठन-पाठन में लोगों को प्रवृत्तिशील बनाओ। गंगा-यमुना के निरन्तर प्रगतिशील प्रवाह की भाँति लोक-हित कामना से क्रियात्मक जीवन बिताओ। प्रिय पुत्र! गुरु-दक्षिणा में यही वस्तु मुझे दान करो।

अन्य किसी सांसारिक-पदार्थ की मुझे चाह नहीं है।"

इसके बाद स्वामी जी का सम्पूर्ण जीवन आर्य-ग्रन्थों के प्रचार में व्यतीत हुआ। बैसाख सं० १९२० के अन्त में आप मथुरा से आगरा पधारे और यमुना के किनारे भैरव मन्दिर के निकट आसन जमाया। नगर-निवासी आपके उपदेशों को सुनने आने लगे। उन दिनों आप कोई सिला हुआ वस्त्र नहीं पहनते थे। सबसे पहली पुस्तक आपने उन्हीं दिनों भागवत-खंडन पर एक पाखंड-खंडन नामक संस्कृत में लिखी। आगरेसे धौलपुर होते हुए आप आबू गये और वहाँसे ग्वालियर। उन दिनों भागवत कथा का बहुत प्रचलन था। स्वामीजी ने भागवत-खंडन प्रारम्भ कर दिया और पंडितों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। ग्वालियर से आप जयपुर आये। वहाँ आपको महलों में बुलाया गया और जैन गुरु से शास्त्रार्थ हुआ। उन दिनों आप प्रतिमा-पूजन का खंडन करते थे। चार मास जयपुर में निवास करके आपने अनेक ठाकुरों को अपना शिष्य बना लिया। वहाँ से आप अजमेर और पुष्कर राज्य गये। पुष्कर में ब्रह्मा के मन्दिर में निवास किया, किन्तु प्रतिमा-पूजन का खंडन करते रहे। वहाँ के प्रसिद्ध विद्वान् वेंकट शास्त्री ने आपसे शास्त्रार्थ किया। वेंकट शास्त्री ने अंत में घोषणा की—'स्वामी दयानन्द का पक्ष ही सर्वथा सत्य है।' वेंकट शास्त्री भी स्वामी जी के अनुयायी बन गये। सैकड़ों मनुष्यों ने अपनी कंठियाँ उतारकर पुष्करार्पण कर दीं।

स्वामीजी के सन्तोष, क्षमा, सरलता और शान्ति का सभी लोग यश गाते थे। उनकी विद्वता का लोहा सारी पंडित-मंडली ने मान लिया। पुष्कर से तीन कोस पूर्व की ओर मार्कण्डेय की गुफा है। उन दिनों स्वामीजी वहाँ से विभूति मंगाकर रमाया करते थे। बाईस दिन पुष्कर में निवास करने के बाद स्वामीजी ज्येष्ठ बदी प्रथमा संवत्

१९२३ को अजमेर पहुँचे। अजमेर में स्वामीजी की भेंट उस समय के प्रसिद्ध ईसाई विद्वान राविन्सन, पादरी ग्रे और शूलब्रेड के साथ हुई। पादरी शूलब्रेड ने स्वामीजी से कहा, "यदि आप इस तरह खंडन करेंगे तो जेल चले जायेंगे।" स्वामीजी ने बड़ी गम्भीरता से मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"मैं लोगों के डराने से सत्य को नहीं छोड़ सकता। ईसा को भी लोगों ने फाँसी पर लटका ही तो दिया था।"

अजमेर से स्वामीजी किशनगढ़ पहुँचे और फिर जयपुराधीश के आग्रह पर जयपुर गये। जयपुर के राज्य-मन्दिर में पधारने के लिए जयपुराधीश ने निमन्त्रण दिया, किन्तु कारणवश महाराजा रामसिंह स्वयं मन्दिर में नहीं आ सके। स्वामीजी को इस वात पर वहुत दुःख हुआ। इसके वाद महाराजा ने कई वार आग्रह करके स्वामीजी को राज्य-मन्दिर आने का वुलावा भेजा, किन्तु स्वामीजी ने स्वीकार न किया। वहाँ से आप पुनः मथुरा आए और यहाँ वैष्णव-शैव और शाक्त आदि सम्प्रदायों को अमूलक प्रमाणित किया। एकादशी आदि व्रतों के महात्म्य को भी आपने व्यर्थ सिद्ध किया और केवल वेद को ही प्रामाणिक वताया।

उन्हीं दिनों कुम्भ-संक्रांति के एक मास पूर्व चैत्र सं० १९२४ में आप हरिद्वार के कुम्भ में पधारे। वहाँ भीमगोड़े के ऊपर कुछ पर्ण-कुटियाँ वनाईं और पाखंड-खंडिनी पताका स्थापित कर दी। पौरा-णिक धर्म के उस गढ़ में आपने वैदिक-धर्म की घोषणा की। स्वामी-जी की पर्णकुटी पर झूमते हुए ओम् के झंडे को देखकर लोग हजारों की संख्या में जमा होने लगे। वहुत से ब्राह्मण और साधू स्वामीजी की कुटी पर शास्त्रार्थ करने आते थे। उस महामेले में स्वामीजी ने वहुत से व्याख्यान दिये, अनेकों शास्त्रार्थ किए, सैकड़ों जिज्ञासुओं को समझाया।

इस द्वादशवर्षीय महाकुम्भ के बाद स्वामीजी ने सर्वस्व त्यागकर तपस्या करने का निश्चय किया। आपने अपने सारे उपकरण वहाँ त्याग दिये और महाभाष्य की एक पुस्तक, एक स्वर्ण-मुद्रा और मलमल का एक थान भी गुरुदेव की सेवा में मथुरा भेज दिया। सब कुछ त्यागकर आप सारे तन पर राख रमा, कौपीनधारी बन गए। व्याख्यान देना और वाद-विवाद करना भी छोड़ दिया। सर्वथा मौन रहने का व्रत लिया।

किन्तु इस लम्बे मौन-व्रत की निस्सारता आपके सामने बहुत शीघ्र प्रकट हो गई। लोक-हित करते हुए धर्म-प्रचार करने का ही आपने पुनः संकल्प किया। एकान्तवास छोड़कर फिर कर्मक्षेत्र में उतर आये। यहाँ से आप गढ़मुक्तेश्वर गये। वहाँ आप एक माझी की कुटी क पास दिन-रात रेत पर रहते और जो कोई आता, उसे उपदेश देते थे। पन्द्रह दिन गढ़मुक्तेश्वर रहने के बाद आपने अन्य शहरों का भ्रमण प्रारम्भ कर दिया।

स्वामीजी के खंडन से क्रुद्ध होकर कई ब्राह्मण उनकी हत्या के लिये कटिबद्ध हो गये। एक दिन एक ब्राह्मण स्वामीजी के समीप आया और उसने पान प्रस्तुत किया। स्वामीजी ने सहजभाव से पान मुख में रख लिया। उसका रस लेते ही वह जान गये कि यह विषयुक्त है। ब्राह्मण को कुछ न कहकर वे उसी समय गंगा पार चले गये और बस्ती और न्योली कर्म करके विष निकाल दिया। स्वामीजी को विष देने का भेद अनूपशहर के तहसीलदार को भी मालूम हो गया। वह स्वामीजी का भक्त था। उसने विष देनेवाले को बुलाकर कैद में डाल दिया। स्वामीजी को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने कहा, "मैंने सुना है कि मेरे लिये आज आपने एक व्यक्ति को कैद किया है। मैं मनुष्यों को मुक्ति देने आया हूँ, बन्धन में डालने नहीं। आप उसे स्वतन्त्र करदें।"

स्वामीजी की क्षमा-वृत्ति देखकर तहसीलदार आश्चर्यचकित रह गया ।

स्वामीजी बड़े छोटे में कोई भेद नहीं रखते थे । उनकी दृष्टि में सब प्रकार के कामों का एक ही समान ऊंचा दरजा था । एक दिन एक भक्त धुनिये ने प्रार्थना की कि "स्वामीजी, जप के अतिरिक्त मुझे और क्या कर्म करना चाहिये, जिससे मेरा कल्याण हो ?" स्वामीजी ने कहा—"सदाचार-पूर्वक जीवन विताओ, जितनी रूई किसी से लो, तूमकर उतनी ही उसे लौटा दो । यही सद्व्यवहार तुम्हारे लिये एक उत्तम कल्याणकारी कर्म है ।"

छुआछूत में भी स्वामीजी का विश्वास नहीं था । उनकी दृष्टि सब के लिये सम थी । अनूपशहर में एक उमेदा नाई रहता था । एक दिन वह भक्ति-भावना से थाल में भोजन परसकर स्वामीजी की सेवा में लाया । स्वामीजी ने भोजन ले लिया । अचानक उस समय वहीं वीस-पच्चीस ब्राह्मण भी थे । वे कह उठे "छिः छिः, स्वामीजी यह क्या करते हैं । यह रोटी तो नाई की है ।" स्वामीजी ने हँसते हुए जवाव दिया, "नहीं, यह रोटी तो गेहूं की है, इसलिए मैं इसे अवश्य खाऊँगा ।"

निर्भयता स्वामीजी में आश्चर्यजनक थी । एक दिन कर्णवास के राव कर्णसिंह जी, जो वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायी रंगाचार्य के चेले थे, स्वामीजी के पास आये और कहने लगे, "याद रखो, यदि मेरे सामने तुमने हमारे गुरु की निन्दा की तो वुरी तरह वर्ताव करूंगा ।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "मैं किसी की निन्दा नहीं करता । किन्तु जो वस्तु जैसी है वैसी कहना अपना धर्म मानता हूं ।" राव महाशय इस तरह के कई उत्तर पाकर वहुत क्रुद्ध हो गये । उनकी आँखों में लहू उतर आया और अनाप-शनाप वकने लगे । कभी-कभी

उनका हाथ तलवार की मुट्ठी पर भी जाता था। इस पर स्वामीजी ने हँसते हुए कहा, "राव महाशय, तलवार की मुट्ठी को क्यों बार-बार छूते हो, तलवार टकराने का चाव हो तो सन्यासी से क्यों, जयपुर, जोधपुर के नरेशों से जा भिड़ो!" रावसाहब क्रोध से जल उठे। तलवार उठाकर वे स्वामीजी की ओर लपके। स्वामीजी ने तलवार उनके हाथ से छीन ली और भूमि के साथ टेककर तलवार के दो टुकड़े कर डाले। तब राव महाशय का मुख पीला पड़ गया। स्वामी-जी ने कहा--"मैं सन्यासी हूँ, मेरे हाथों तुम्हारा अनिष्ट नहीं होगा।" यह कहकर उन्होंने तलवार के दोनों खण्ड दूर फेंक दिये। राव महाशय लज्जित होकर लौटे। स्वामीजी की इस वीरता की कहानी चारों ओर फैल गई।

उन दिनों स्वामीजी गंगातट के नगरों में परिभ्रमण कर रहे थे। गंगा समीपवासी हजारों लोगों को जनेऊ देकर आपने द्विज बनाया, संध्या सिखाई, गायत्री का जप बताया और लाखों लोगों को सदुपदेश से सन्मार्ग दिखाया। अढ़ाई वर्ष तक इस तरह भागीरथी तट पर विचरते हुए वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे।

उन दिनों भी काशी हिन्दू-शास्त्र के पंडितों का केन्द्र था। स्वामी दयानन्द जी की देर से इच्छा थी कि वह मूर्तिपूजा के केन्द्र काशी में जाकर पौराणिक महादुर्ग का भेदन करें। काशीवासियों को वैदिक धर्म का सच्चा स्वरूप बतलायें। उन्हें विश्वास हो गया था कि यदि वे काशी में सुधार और नया संस्कार ला सकेंगे तो पौराणिक आचार-विचार में क्रांतिकारी परिवर्तन हो सकेगा। यही सोचकर आप कार्तिक वदी २ सं० १९२६ वि० को काशी पधारे। उनके आने का समाचार काशी में बिजली की तरह फैल गया। काशी आने पर आपने काशी-नरेश को सन्देश भिजवा दिया कि 'आपका कर्तव्य

है कि मूर्तिपूजा आदि विषयों पर शास्त्रार्थ कराकर सत्यासत्य का निर्णय करें।' नरेश ने शास्त्रार्थ का प्रबन्ध कर दिया। शास्त्रार्थ की धूम काशी में मच गई। काशी-नरेश सहित सैकड़ों विद्वान, जिनमें पंडित-सैन्य के प्रसिद्ध महारथी स्वामी विशुद्धानन्द जी, बाल शास्त्री, शिवसहाय और माधवाचार्य के नाम उल्लेखनीय हैं, शास्त्रार्थ करने आये।

चार घंटे तक निरन्तर शास्त्रार्थ होता रहा। काशी के विद्वान् जब तर्क में सफल न हुए, तो उन्होंने कूटनीति से काम लिया। सारे पंडित तालियाँ पीटने और जय-जय नाद करने लगे। सर्वत्र अव्यवस्था फैल गई। कुछ लोगों ने स्वामी जी पर पत्थर और कंकर फेंके। काशी के उपद्रवी पंडों ने स्वामी जी को अपमानित करने के बहुत प्रयत्न किये। काशी के कुछ उत्पाती मुसलमान भी इसमें शामिल थे। एक बार उन्होंने स्वामी जी को उठाकर गंगा में फेंकने का भी यत्न किया। स्वामी जी यदि पद्मासन लगाकर गंगा के पानी में देर तक न बैठे रहते तो मुसलमानों का यह दल उनके प्राण ले लेता। उन्हें पान में जहर भी दिया गया और उनके वध के अन्य षड्यन्त्र भी रचे गये।

स्वामी जी का व्यवहार अपने विरोधियों के प्रति भी सदा मधुर रहता था। उनके वचन में कभी व्यक्तिगत कटाक्षों का समावेश नहीं हुआ। वैर-बुद्धि उन्हें छू तक नहीं गई थी, इसलिए विरोधी भी उनकी बातों को सुनकर भक्त बन जाता था।

काशी में प्रचार करने के बाद आप प्रयाग के कुम्भ मेले पर प्रचार करने के लिए प्रयाग गये। स्वामी जी उन दिनों अवधूत-वृत्ति में रहा करते थे। माघ में घोर शीत पड़ती थी, किन्तु उनके शरीर पर कौपीन के अतिरिक्त कोई वस्त्र नहीं होता था।

कुछ दिन बाद फिर राव कर्णसिंह ने स्वामी जी के वध का षड्यन्त्र किया। आपने तीन नौकरों को तलवारें देकर स्वामी जी को मारने को भेजा, किन्तु उन शस्त्रधारी नौकरों का साहस निरस्त्र स्वामी के हुँकार-गर्जन से काफूर हो गया। स्वामी दयानन्द इन षड्यन्त्रों से जरा भी विचलित न हुए। वे कहा करते थे कि "हमारा रक्षक तो केवल एक भक्तवत्सल भगवान् ही है। हमें घबराना नहीं चाहिये।" अनेक वार ऐसा हुआ कि इस कौपीन-मात्र धारी सन्यासी ने चालीस-चालीस और पचास-पचास मनुष्यों के दल का अकेले ही सामना किया।

कुछ दिन बाद कलकत्ते जाकर स्वामीजी श्री केशवचन्द्र सेन से मिले। स्वामीजी की उक्तियाँ सुन और उनकी अपरिमित प्रतिभा का परिचय पाकर एक बार केशवचन्द्र सेन ने कहा कि "शोक है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानता। अन्यथा इंग्लैण्ड जाते समय वह इच्छानुकूल साथी होता।" स्वामीजी ने भी हँसकर उत्तर दिया—शोक है कि ब्रम्हसमाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है जिसे लोग समझते ही नहीं। कलकत्ता में महात्मा देवेन्द्रनाथ ने भी स्वामी दयानन्द के प्रति श्रद्धाँजलि भेंट की। राजा सुरेन्द्रमोहन जी के बुलावे पर आपने कहा—"मैं एक व्यक्ति के लिये वहुतों की हानि नहीं कर सकता। राजा महाशय मिलना चाहते हैं तो यहीं आ जाएं।"

सं० १९३१ वि० में स्वामीजी वम्वई आये। शिक्षित-समाज ने युग के आदर्श सुधारक का सोत्साह स्वागत किया। कुछ विद्वेषी व्यक्तियों ने वलदेवसिंह को स्वामीजी के वध के लिए प्रेरणा दी। किन्तु इस षड्यन्त्र का भेद स्वामी जी को पहले ही मालूम हो गया। वलदेवसिंह ने स्वामीजी के चरण पकड़कर क्षमा माँगी। वम्वई में ही

स्वामी जी ने प्रथम आर्यसमाज की स्थापना की। मार्गशीर्ष मास सं० १९३१ वि० को बहुत से आर्य-सज्जन मिलकर स्वामी जी के पास आये और बोले—"हम आपके उपदेश से पूरा लाभ उठाने के लिये सत्संग की स्थापना करना चाहते हैं। कृपया आप श्रीमुख से उसका नामकरण कर दीजिये। स्वामी जी ने कुछ देर ध्यानावस्थित रहने के बाद कहा—"इस सत्संग का शुभ नाम 'आर्यसमाज' ही रखना उचित है।" तभी से आर्य सत्संग का नाम 'आर्यसमाज' रखा गया।

सत्यार्थप्रकाश की रचना बम्बई आने से पूर्व ही हो गई थी। सत्यार्थप्रकाश लिखकर आप राजा जयकृष्णदास जी को छपवाने के लिये दे आये थे। बम्बई रहते हुए आपने 'संस्कार विधि' तथा अन्य कई ग्रंथ लिखे।

बम्बई से आप सूरत पहुँचे। सूरत के आस-पास के गाँवों में भी गये और वैदिक-धर्म का प्रचार किया। स्वामी जी की सरलता, गम्भीरता और शुद्ध व्यवहार का नवयुवकों पर भी बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। सूरत से आप भड़ोंच गये। नर्मदा के किनारे भृगु आश्रम में आसन लगाया। भड़ोंच से आप अहमदाबाद गये। भड़ोंच में एक सेठ ने मन्दिर की ओर इशारा करते हुए कहा, कि मन्दिर में मैंने दो लाख रुपये व्यय किए हैं। स्वामीजी ने उत्तर दिया—'ऐसी अविद्या से ही आज हम लोगों की दुर्दशा हो रही है। यदि इतना धन आप पाठशाला में लगा देते तो सैंकड़ों अशिक्षित लोगों को शिक्षा मिलती।'

दूसरी बार सं० १९३१ में जब स्वामीजी बम्बई आये तो आर्य-समाज की स्थापना का आयोजन पूरा हो गया था। स्वामी जी के आदेशानुसार चैत्र सुदी ५ सं० १९३२ वि० शनिवार को बम्बई

नगर के गिरगाँव मुहल्ले में डाक्टर माणिकचन्द की वाटिका में सायं समय आर्य समाज की शुभ स्थापना हुई और आर्य समाज के मूल-भूत नियम निर्धारित हुए ।

स्वामीजी जब वम्वई प्रान्त में विचर रहे थे, उन्हीं दिनों राजा जयकृष्णदास के प्रबन्ध से 'सत्यार्थ प्रकाश' छपकर प्रकाशित हो गया था । वम्वई में ही आपने 'संस्कार विधि' और 'आर्याभिविनय' यह दो ग्रन्थ मुद्रित कराकर प्रकाशित किये । वेद-भाष्य करने का उद्योग भी आरम्भ हो गया । उसी वर्ष स्वामीजी दिसम्बर मास के अन्त में दिल्ली आये। यहाँ आकर उन्होंने यह यत्न किया कि देश भर के नरेशों की सभा कराकर सबको एक धर्म में दीक्षित किया जाय । स्वामी जी का यह प्रयत्न सफल न हो सका। तब आपने अपने स्थान पर भारत के भिन्न-भिन्न मतों और जातियों, विभागों के नेताओं की एक सभा बुलाई। उनके निमन्त्रण पर पंजाब के प्रसिद्ध सुधारक कन्हैया-लाल जी अलखधारी, श्रीयुत नवीनचन्द्रराय, श्रीयुत हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, सर सैयद अहमद, श्री केशवचन्द्रसेन और श्री इन्द्रमन जी ये छः सज्जन वहाँ पधारे, उनमें सातवें श्री महाराज सम्मिलित हुए और सब मिलकर भारत के हित के साधनोपाय सोचने लगे। यह बात सहज में समझ में आ सकती है कि आर्यावर्त की उच्च आत्माओं ने उस सम्मेलन में भारत-प्रजा के सुधार और निस्तार के अनेक साधन सोचे होंगे, परन्तु प्रसंग से सम्बन्ध रखने वाली बात यह है कि इस अभूतपूर्व सभा में स्वामी जी ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि हम भारतवासी सब परस्पर एकमत होकर एक ही रीति से देश का सुधार करें तो आशा है कि भारत देश सुधर जायगा ।

उन्होंने श्री केशवचन्द्रसेन आदि सज्जनों को यह भी कहा कि पृथक्-पृथक् सभा स्थापना करने के स्थान पर यदि हम मिलकर एक ही

र्म का प्रचार करें तो वहुत ही अच्छा हो। परन्तु कई मौलिक मन्त-
तों में मतभेद होने के कारण वे सव एकता के सूत्र में सम्बद्ध न हो
के।

सं० १९३४ वि० में स्वामी जी पंजाव की राजधानी लाहौर गये
और वहाँ आर्यसमाज के नियमों का नूतन संस्कार करके आर्यसमाज
की नींव एक प्रवल चट्टान पर रख दी। कार्तिक सुदी १ सं० १९३४
वि० में इन नियमों का अंतिम स्वरूप वना। इसके वाद स्वामीजी
घोषणा की कि "वैदिक धर्म-प्रचार कार्य वहुत वड़ा है। हम जानते
कि वह हमारे इस सारे जीवन में पूर्ण न हो सकेगा।" लाहौर से
आप अमृतसर आये और वहाँ से गुरुदासपुर गये। आपके व्याख्यानों
उच्च कर्मचारी भी सम्मिलित होते थे। आप जहाँ भी जाते, आर्य-
समाज की स्थापना करते थे। उन दिनों स्वामीजी के साथ वेद-भाष्य
लिखने के लिये तीन पण्डित रहा करते थे। अंग्रेजीमें पत्र-व्यवहार करने
के लिये एक अंग्रेजीविज्ञ भी था। अन्यान्य कार्यों के लिये चार-पाँच
सेवक और थे। व्याख्यान देते समय आप सिर पर एक रेशमी पीता-
म्बर एक पीली धोती और ऊपर एक ऊनी चोगा पहन लेते थे।

स्वामी जी के आगमन से पहले पंजाव में पादरियों का वड़ा प्रभाव
था। पादरियों ने भी स्वामी जी से शास्त्रार्थ किया। आर्यसमाज के
प्रचार ने पादरियों का प्रभाव मिटा दिया।

कुछ वर्ष वाद स्वामीजी फिर राजस्थानी राज्यों में भ्रमण करने
आये। इस वार नरेशों ने स्वयं महाराज को निमन्त्रित किया। १९३८
आप इन्दौर-नरेश के निमन्त्रण पर इन्दौर पहुँचे। वहाँ से वम्बई
जाते हुए चित्तौड़ गये और फिर श्रावण वदी १३ को उदयपुर पधारे।
उदयपुर में जिस दिन आप पहुँचे उसी दिन श्री राणाजी मंत्रिमंडल

और पुरोहितों सहित आपके दर्शन को आये। उदयपुर के राणा स्वयं प्रतिदिन स्वामीजी के दर्शन को आते थे। स्वामीजी ने राणा-जी के साथ विचार करने के अनन्तर सारे राज्य के ठाकुरों के लड़कों के लिये एक पाठशाला भी खोलने का प्रबन्ध किया, किन्तु राणा के रोगी होने के कारण यह कार्य बीच में ही रह गया। उदयपुर में रहते हुए ही स्वामीजी ने परोपकारिणी सभा स्थापित की और अपनी पुस्तकों के सर्वाधिकार इस सभा को दिये। उदयपुर से सम्मानपूर्वक विदा होने के बाद आप शाहपुरा पहुंचे। शाहपुरा रहते हुए आपके पास जोधपुर से लिखा महाराज यशवन्तसिंह का निमन्त्रण आया। जोधपुर जाते समय स्वामीजी को यह चेतावनी दी गई कि "जहाँ आप जा रहे हैं, वहाँ के राजा लोग भोग-विलास में डूबे हुए हैं। वे लोग कठोर प्रकृति के हैं, कहीं ऐसा न हो कि सत्योपदेश से चिढ़कर वे आपको हानि पहुँचावें।"

स्वामीजी ने इसका उत्तर दिया—"यदि लोग हमारी अंगुलियों को बत्ती बनाकर जला दें तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहाँ जाकर अवश्य सत्योपदेश दूंगा।"

जोधपुर-नरेश की ओर से स्वामी जी के स्वागत का उत्तम प्रबन्ध किया गया था। जोधपुर के राजा और दरबारी लोग स्वयं स्वागत को आये थे। जोधपुर में आने के पश्चात् सत्रहवें दिन महाराजा यशवन्त-सिंह जी स्वयं स्वामीजी के आश्रम में आकर फर्श पर बैठ गये और कहा—"आप हमारे स्वामी हैं और हम आपके सेवक! इसलिये आपके सामने नीचे आसन में बैठने में ही हमारी शोभा है।" दूसरे दिन से ही स्वामी जी की व्याख्यान-माला शुरु हो गई। हजारों लोग रोज व्याख्यान सुनने आते थे। स्वामी जी के दर्शन को महाराजा यशवन्तसिंह तीन बार उनके आश्रम पर आये और स्वामी जी को

महलों में आने का निमंत्रण दिया। एक दिन जब स्वामीजी जोधपुराधीश को दर्शन देने गये तो उस समय वहाँ एक वेश्या नन्हींजान आई हुई थी। उसे देखकर स्वामी दयानन्द बहुत दुःखी हुए, उन्होंने राजा को सम्बोधित करते हुए कहा—"राजन्! राजा लोग सिंह समान समझे जाते हैं। स्थान-स्थान पर भटकने वाली वेश्या कुतिया के सदृश है। वीरशार्दूल का कुतिया पर प्रेम करना और आसक्त हो जाना सर्वथा अनुचित है, आर्य जाति की कुल-मर्यादा के विपरीत है। केसरी की कंदरा में ऐसी कल्मष-कलुषित कुक्कुरी के आगमन का क्या काम है? इस कुव्यसन के कारण धर्म-कर्म भ्रष्ट हो जाता है। मान-मर्यादा को वट्टा लगता है। इस पापसोपान पर प्रथम पदार्पण करते ही, पुनः पद-पद पर पुरुष का अधःपतन आप-ही-आप होता चला जाता है। इस दुर्व्यसन को तिलांजलि देनी चाहिये।"

नन्हींजान इस बात को जानती थी कि स्वामीजी के उपदेश वेश्या-व्यसन के विरुद्ध बहुत प्रभाव रखते हैं। उसे यह भी पता लग गया कि स्वामीजी ने उसकी तुलना कुतिया के साथ की है। इन दोनों बातों से उसके कलेजे पर साँप लोटने लगा।

उसने स्वामीजी से बदला लेने के लिये ठान ली। सं० १९४० को रात्रि के समय स्वामीजी ने अपने रसोइये से दूध लेकर पिया और सो गये। थोड़ी देर तक आँख लग नहीं पायी थी कि उनके पेट में दर्द उठा। तब पता लगा कि नन्हींजान ने जगन्नाथ नामक रसोइये को छः-सात सौ रुपये देकर स्वामीजी के भोजन में विष दिलवा दिया था। विष का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता गया। वह विष स्वामीजी की नस-नस में प्रवेश करके जीवन-शक्ति का शोषण कर रहा था। सायंकाल के चार बजे स्वामीजी की रुग्णावस्था का समाचार महाराजा प्रतापसिंह को मिला। आठ-नौ दिन में ही स्वामीजी की देह

बहुत क्षीण हो गई। किन्तु, सब कुछ जानते हुए भी उन्होंने मुख से किसी विश्वस्त को यह नहीं कहा कि मुझे विष दिया गया है।

विष देने वाले जगन्नाथ को पकड़कर जब स्वामीजी के समाने लाया गया तो उन्होंने उसे दंड देने के स्थान पर एकांत में कहा—"लो यह कुछ रुपये हैं। मैं तुम्हें देता हूँ, तुम्हारे काम आयेंगे और जैसे भी हो राठौर-राज्य की सीमा से पार हो जाओ। जाओ, चुपचाप भाग जाओ। यहाँ तुम्हारा जीवन संकट में है।"

रोग के बहुत उपचार किये गये, किन्तु कोई भी सफल न हुआ। स्वामी जी को औषधि के लिये आबू पर्वत पर ले जाया गया। महाराजा यशवन्तसिंह और महाराजा प्रतापसिंह स्वयं उन्हें विदाई देने आये। उन्होंने जब स्वामीजी से कहा कि "आपके इस रोग को मैं अपने ऊपर एक प्रकार का कलंक मानता हूँ।" तो स्वामीजी ने आश्वासन देते हुए उत्तर दिया—"राजन्, आप इसकी चिन्ता न कीजिये। ईश्वर के विधान से जो होना निश्चित है वह होकर रहेगा। रोग तो देह के साथ धूप और छाया की भाँति लगे ही रहते हैं।"

कार्तिक कृष्ण पक्ष १४ को स्वामी जी के शरीर पर नाभि तक छाले पड़ गये थे। गला बैठ गया था। सारी देह में आग-सी लगी हुई थी। परन्तु वे नेत्र बन्दकर ब्रह्मध्यान में मग्न थे। कार्तिकी अमावस्या मंगलवार को दीपमाला के दिन स्वामी जी पुनः सशक्त हो गये थे। उनका कंठ खुल गया था। उनके भक्तों ने समझा कि यह रोग-निवृत्ति की प्रथमावस्था है, किन्तु वह तो बुझते दीप की अन्तिम ज्योति थी।

स्वामीजी ने उस दिन इच्छानुकूल भोजन बनाने की आज्ञा दी और जब थाल लगकर आया तो अपने भक्तों में पक्वान्न बाँट दिया। नाई को बुलाकर आपने क्षौर करने को कहा। फिर गीले तौलिये से

शरीर को पोंछकर सिरहाने के सहारे पलंग पर वैठ गये और प्रिय शिष्यों के मस्तक पर हाथ रखकर कहा—"इस नाशवान क्षणभंगुर शरीर का अब मैं परित्याग कर दूँगा । तुम अपने कर्तव्य कर्म का पालन करते हुए आनन्द से रहो । संसार में संयोग और वियोग का होना स्वाभाविक है ।"

देह में सर्वत्र छाले पड़े होने पर भी स्वामी जी का मुख प्रसन्न था। घबराहट के कोई भी चिन्ह लक्षित नहीं होते थे । शाम के साढ़े पाँच बजे स्वामीजी ने सब द्वार खुलवा दिये और वेदमंत्रों का उच्चारण आरम्भ कर दिया । अन्तिम समय में उन्होंने कहा—'हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान ईश्वर, सचमुच तेरी ही इच्छा है । हे परमात्मदेव, तेरी इच्छा पूर्ण हो !' इन शब्दों के साथ आपने अन्तिम श्वास लिया । कार्तिक अमावस्या सं० १९४० वि० मंगलवार को सायं छः बजे इस युग का सबसे बड़ा सुधारक और हिन्दू-जाति को नया जीवन दने वाला महापुरुष, स्वामी दयानन्द, संसार से विदा हो गया । हिन्दू जाति स्वामी दयानन्द के उपकारों से कभी ऋणमुक्त न हो सकेगी !

से 'केसरी' नाम के मराठी दैनिक और 'मराठा' नाम के अंग्रेजी साप्ताहिक को जन्म दिया। इन पत्रों ने महाराष्ट्र में राजनीतिक चेतना जागृत करने में अनुपम कार्य किया। 'केसरी' के निर्भीक लेखों ने सोई हुई जनता को जगा दिया। इन पत्रों ने सरकार की अन्यायपूर्ण नीति का विरोध भी विना भय व पक्षपात के किया। इससे पूर्व सरकार के विरुद्ध आवाज उठाने का साहस कोई पत्र नहीं कर सका था। लोकमान्य तिलक निःस्वार्थ देश-सेवा कर रहे थे —इसलिए उन्हें किसी से डरने का कारण नहीं था। सरकार के अन्यायपूर्ण कार्यों की आपने कड़ी आलोचना की। सरकार भी आप पर अंकुश का प्रहार करने का अवसर देखने लगी।

अन्त में सरकार ने यह प्रहार कर ही दिया। उस प्रहार ने 'केसरी' और तिलक का यश सारे महाराष्ट्र में ही नहीं, सारे देश में फैला दिया। 'केसरी' ने एक अंक में कोल्हापुर के अंग्रेज दीवान की कड़े शब्दों में निन्दा की थी। दीवान ने 'केसरी' के सम्पादकों पर मानहानि का दावा कर दिया। तिलक और उनके साथी आगरकर को चार महीने की कैद हुई। जेल से आकर लोकमान्य ने 'इंग्लिश स्कूल' के काम को वहुत वढ़ाया। फर्गुसन कालेज भी खोला। 'दक्खिन एजुकेशनल सोसायटी' की स्थापना भी की। यह सोसायटी इन शिक्षण-संस्थाओं का प्रवन्ध करती थी। चार-पाँच वर्ष तक इस सोसायटी से सम्वद्ध रहने के वाद आगरकर तथा अन्य मित्रों से मतभेद हो जाने के कारण आपने सोसायटी से त्यागपत्र दे दिया।

सोसायटी से सम्वन्ध तोड़कर आप राजनीतिक कार्यों में पूर्ण तत्परता से लग गए। आपकी योजनाओं से सारे महाराष्ट्र में चेतना की एक लहर दौड़ गई। महाराष्ट्र का वच्चा-वच्चा स्वतन्त्रता के गीत गाने लगा।

इन योजनाओं में सबसे प्रथम शिवाजी-उत्सव मनाने की योजना थी। महाराष्ट्र से पेशवाओं के साम्राज्य को अस्त हुए अधिक दिन नहीं बीते थे। शिवाजी की गौरव-गाथायें भी अभी जनता के हृदय में बसी हुई थीं। तिलक भी शिवाजी के भक्तों में से थे। उन्होंने महाराष्ट्र भर में शिवाजी-उत्सव का विशाल रूप में आयोजन किया। इनमें अपने पूर्व गौरव को याद करके लोगों का हृदय नए उत्साह से भर जाता था। लोकमान्य तिलक की भाषा में शिवाजी का अर्थ देश-प्रेम, स्वाधीनता, स्वाभिमान और जागृति था। ये उत्सव बहुत जल्दी महाराष्ट्र के जीवन का अंग बन गए। लोकमान्य को इन उत्सवों को राजनीतिक उद्देश्यपूर्त्ति का प्रबल साधन बनाने में पूरी सफलता मिली। गणेशोत्सव द्वारा भी आपने राजनीतिक भावनाओं का प्रचार किया। गणेशजन्म का उत्सव महाराष्ट्र में घर-घर मनाया जाता है। उस उत्सव को भी लोकमान्य ने राजनीतिक रंग दे दिया था।

अपने राष्ट्रीय कार्यों के कारण धीरे-धीरे तिलक का परिचय अन्य राष्ट्रीय कर्णधारों से भी होता गया। काँग्रेस के कार्यों में भी आप सह-योग देने लगे। काँग्रेस ने आपको दक्षिण भारत की काँग्रेस-कमेटी का मन्त्री चुना। बम्बई के काँग्रेस-सम्बन्धित कार्यों में आप भी बड़े उत्साह से भाग लेते रहे। और जब १९०६ में काँग्रेस का अधिवेशन पूना में हुआ तो आप मन्त्री चुने गए, किन्तु, बाद में सहयोगियों के बीच आपसी मतभेद होने के कारण आपने इस पद से त्यागपत्र दे दिया।

काँग्रेस से सम्बन्ध रहने के साथ-साथ आप बम्बई धारा-सभा के और म्युनिसिपल कार्पोरेशन के सदस्य भी बने। इन पदों पर रहकर आपने महत्वपूर्ण नागरिक सेवाएँ कीं। १८९६ ई० में महाराष्ट्र में अचानक प्लेग की बीमारी फूट पड़ी। प्रतिदिन हजारों व्यक्तियों की

मृत्यु होने लगी। अंग्रेजी सरकार ने प्लेग रोकने के लिये न तो स्वयं कोई काम किया और न ही जनता के स्वयंसेवकों को काम करने दिया। सरकार के इस व्यवहार की कड़ी आलोचना लोकमान्य ने अपने पत्र 'केसरी' में की। सरकारी अधिकारी इन लेखों के कारण आपसे चिढ़ गए और बदला लेने का अवसर खोजने लगे।

यह अवसर उन्हें तब मिला जब महाराष्ट्र के दो नौजवानों ने पूना में महारानी विक्टोरिया की हीरक जयन्ती के उत्सव में भाग लेते हुए प्लेग-कमिश्नर मिस्टर रैंड और एक अन्य अंग्रेज अफसर का वध कर दिया। सरकार ने यह अभियोग लगाकर कि तिलक के इन अफसरों के विरुद्ध लिखे लेख इन हत्याओं के जनक हैं, उन्तीस जून को तिलक को गिरफ्तार कर लिया। अदालत ने आपको १६ महीने की कैद का दण्ड सुनाया। इस अन्यायपूर्ण आज्ञा के विरुद्ध देश भर में प्रबल असन्तोष फैल गया।

इसके बाद १९०५ में बंगभंग के आन्दोलन में भी आपने बंगाल का साथ दिया। बनारस के काँग्रेस अधिवेशन में आपने बंगभंग का घोर विरोध किया। अगला अधिवेशन कलकत्ता में होने वाला था। बंगाल के नेता श्री विपिनचन्द्र पाल, लोकमान्य तिलक को इस अधिवेशन का अध्यक्ष बनाना चाहते थे, किन्तु गोखले तथा अन्य नरमदली नेताओं ने तिलक के सभापति बनने का विरोध किया। वे तिलक के क्रांतिकारी विचारों से डरते थे। इस प्रश्न पर काँग्रेस के दोनों दलों का विरोध इतना बढ़ गया कि काँग्रेस प्रकट रूप से दो, नरम और गरम दलों में बँट गई। अंत में दादाभाई नौरोजी इस अधिवेशन के प्रधान बने। दादाभाई दोनों के मान्य नेता थे। दादाभाई ने दोनों दलों में एकता कराने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु सफलता नहीं मिली।

यह मतभेद बढ़ता ही गया। नागपुर का अधिवेशन इन्हीं झगड़ों में स्थगित करना पड़ा। सूरत में फिर दोनों दलों की लड़ाई हो गई। लोकमान्य जब भाषण देने खड़े हुए तो किसी ने आप पर जूता फेंका। तिलक शान्त भाव से खड़े रहे, किन्तु प्रतिनिधियों में हाथापाई शुरू हो गई।

इन घटनाओं से खिन्न होकर लोकमान्य तिलक काँग्रेस के संगठन से अलग हो गये। बाद में श्रीमती एनीबेसेंट से मिलकर आपने होमरूल-लीग की स्थापना की। आठ-नौ वर्ष तक आप काँग्रेस से बिल्कुल पृथक् रहकर होमरूल-लीग का ही काम करते रहे। काँग्रेस नरमदली नेताओं के हाथ में रही।

सरकार ने काँग्रेस की इस फूट का लाभ उठाकर गरम-दल को कुचलना चाहा। उन दिनों सरकार की दमन-नीति के विरोध में क्रांति-कारी-दल भी संगठित हो रहा था। तीस अप्रैल १९०८ में बंगाली क्रांतिकारी खुदीराम बोस ने एक सरकारी अफसर पर बम फेंका। सरकार ने इसका सम्बन्ध गरम-दल के नेताओं से जोड़ना चाहा। लोकमान्य के घर की भी तलाशी हुई। उन्हें पकड़ लिया गया। तिलक के घर की तलाशी में सरकार के हाथ एक कार्ड आ गया जिस पर 'फ़ासफोरस' के सम्बन्ध में कुछ पुस्तकों के नाम लिखे थे। इस आधार पर पुलिस ने यह सिद्ध करना चाहा कि तिलक क्रांतिकारियों के साथ हैं। अंग्रेज जजों ने इस अपराध में तिलक को छः साल काले पानी का दण्ड सुनाया।

इस समाचार से देश भर की जनता में क्रोध और असन्तोष की लहर दौड़ गई। बम्बई तथा अन्य अनेक शहरों में कई दिन तक हड़-ताल रही। जनता का तीव्र असन्तोष देखकर गवर्नर ने कालेपानी की आज्ञा को साधारण कैद की आज्ञा में बदल दिया। पहले आप अह-

मदावाद की जेल में रखे गए, बाद में बर्मा की मांडले जेल में भेज दिये गए । मांडले जेल में रहकर आपने 'गीता रहस्य' की रचना की । मांडले का जलवायु आपके अनुकूल नहीं था, आप अस्वस्थ हो गए । पास में कोई अपना नहीं था । अकेले ही जेल की कठोर यातनाएं सहते रहे । बाद में इंग्लैंड के कुछ विद्वानों के अनुरोध ने ब्रिटिश सरकार को आपकी मुक्ति के लिये विवश कर दिया । १९१४ ई० में आप जेल से छूटे । जिस दिन आप जेल से छूटकर अचानक ही पूना पहुँचे, उस दिन सारे महाराष्ट्र में दीपावली मनाई गई ।

उस वर्ष पहला विश्वयुद्ध शुरू हो गया था । नरम-दल के नेता तथा स्वयं गाँधीजी (जो उस समय गोखले के प्रभाव में थे) युद्ध में अंग्रेजों की सहायता कर रहे थे । तिलक इस सहायता के विरुद्ध थे । उन्होंने कहा कि यदि अंग्रेज वास्तव में प्रजातन्त्र की रक्षा के लिये लड़ रहे हैं तो पहले भारत में स्वतंत्र प्रजातन्त्र की स्थापना करें । जनता पूरी तरह तिलक के साथ थी—किन्तु, तिलक को दो पक्षों का सामना करना पड़ रहा था, अंग्रेजों का और नरम-दल वालों का। समझौते के कई प्रयत्न हुए, किन्तु सब विफल रहे। अन्त में नरम-दल वाले गरम-दल वालों को काँग्रेस में सम्मिलित करने पर सहमत हो गए। परिणामस्वरूप १९१६ के लखनऊ अधिवेशन में लोकमान्य तिलक भी काँग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित हुए ।

इस अधिवेशन में लोकमान्य का मुख्य स्वागत हुआ । 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' इस आदर्श पर आपने उस समय जो भाषण दिया था वह इतिहास में अमर रहेगा । तिलक की तेजस्विता ने नरम-दल के नेताओं का प्रभाव मन्द कर दिया । उनकी नीति समय से बहुत पिछड़ी हुई मालूम होने लगी । तिलक के सम्मिलित होते ही काँग्रेस ने स्वराज्य का आन्दोलन बड़े वेग से शुरू कर दिया । श्रीमती

ी वेसेन्ट ने भी इस आन्दोलन में भाग लिया। वे इस आन्दोलन
। लन्दन पहुँचाना चाहती थीं। लोकमान्य तिलक भी भारत के
ाष्ट-मण्डल द्वारा ब्रिटेन के लोकमत को भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष
करने के पक्षपाती थे। शिष्टमण्डल की योजना भी वनाई गई, किंतु
ारत सरकार ने इंग्लैंड जाने की अनुमति नहीं दी।

शिष्टमण्डल लेकर तो इंग्लैंड जाने का अवसर तिलक को नहीं
मला, किन्तु एक दूसरे प्रकरण में उन्हें इंग्लैंड जाना पड़ा। एक अंग्रेज
त्रकार वेलन्टाइन शिरौल ने 'Unrest in India' (भारत में
शांति) नाम से एक पुस्तक लिखते हुए तिलक पर कुछ अपमानजनक
ारोप लगाए थे। लोकमान्य ने उस पत्रकार पर मानहानि का
कदमा चलाया। मुकदमा इंग्लैंड में चलाया गया—इसलिये आपको
ग्लैंड जाना पड़ा। इस मुकदमे में तिलक की विजय नहीं हुई, अदालत
 न्याय नहीं मिला, किन्तु इस मुकदमे में तिलक ने जो विद्वत्तापूर्ण
क्तव्य दिये थे, उन्हें पढ़कर इंग्लैंड के राजनीतिज्ञों का ध्यान तिलक की
ोर आकृष्ट हुआ। स्वयं वेलन्टाइन शिरौल को भी तिलक की महा-
ता को स्वीकार करना पड़ा और मुकदमे के अन्त में उसने तिलक
ो श्रद्धांजलि दी।

आप इंग्लैंड में थे कि भारत-सरकार ने रौलट-ऐक्ट पास कर
दिया, जिसका विरोध भारत के सव दलों और नेताओं ने किया।
गाँधीजी के नेतृत्व में सारा देश असहयोग-आंदोलन के लिये तैयार
हो गया। इंग्लैंड से वापस आकर आप सीधे अमृतसर में काँग्रेस-
अधिवेशन में भाग लेने के लिये पहुँच गये। आपके भापणों का प्रभाव
जनता पर वहुत पड़ा। इस अधिवेशन में कहा गया उनका एक वाक्य
अमर वन गया—"स्वतन्त्रता माँगने से नहीं मिलती, उसे छीनना
पड़ता है।"

कठिन परिश्रम और जेल की यंत्रणाओं ने आपके स्वास्थ्य को बहुत जर्जरित कर दिया था। जब बम्बई में आपकी ६६वीं वर्षगाँठ मनाई जा रही थी, तब सहसा आपका स्वास्थ्य खराब हो गया। डाक्टरों के अनथक प्रयत्नों के बाद भी आप नहीं बच सके। ३१ जुलाई की रात को बारह बजकर चालीस मिनट पर आपकी जीवनयात्रा पूरी हो गई।

आपकी मृत्यु के समाचार से सारे देश में अंधेरा-सा छा गया। कई दिन तक शहरों में हड़ताल रही। आपकी शव-यात्रा के समय जितनी भीड़ थी, उतनी तब तक किसी शव-यात्रा के साथ नहीं हुई थी। आपका अन्त्येष्टि-संस्कार चौपाटी के समुद्र-तट पर हुआ। वहाँ आज भी आपकी एक मूर्त्ति स्थापित है।

मृत्यु के समय आपकी जिह्वा पर गीता का निम्नलिखित श्लोक था :—

"परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥"

तिलक गीता के भक्त थे। मांडले जेल में आपने गीता का भाष्य करते हुए एक हजार पृष्ठों का ग्रंथ लिखा था। आप गीता का नियमित पाठ करते थे। स्वयं आपने अपने अनुभव लिखते हुए एक स्थान पर लिखा है:—"मेरे जीवन का कोई ही दिन ऐसा गया होगा, जिस दिन मैंने गीता के किसी श्लोक का मनन न किया हो।" उनके अनुसार गीता का सन्देश संक्षेप में यह है—"इस जग में जो कोई कार्य और व्यवहार में करता हूँ, वह मेरा नहीं ईश्वरार्पण है। स्वार्थ-बुद्धि या अहंकार द्वारा किया हुआ काम ही दुःख व बन्धन का कारण होता है। ईश्वर ने मुझे इसलिए जन्म दिया है कि मैं निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करता रहूँ, जो करूँ, वह अपने लिए नहीं, परमेश्वर को अर्पण करने के लिए ही करूँ

लोकमान्य तिलक की गणना विश्व के ऐतिहासिकों में भी थी। वेद-काल का निर्णय करते हुए उन्होंने एक निबन्ध लिखा था, उसमें वेदों का निर्माणकाल ५००० वर्ष पूर्व निर्धारित किया था। आपने यह भी लिखा था कि आर्य लोग पहले ध्रुव प्रदेशों में रहते थे। आर्यों के मूल स्थान के विषय में आपकी सम्मति को प्रामाणिक माना गया था।

लोकमान्य तिलक ने राष्ट्रीय चेतना को जगाने का अनुपम कार्य किया था। इसलिए राष्ट्र-निर्माताओं में उनका स्थान बहुत ऊँचा है।

: ८ :



पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय

पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय और लोकमान्य तिलक ही ने सबसे पहले देश को यह पाठ सिखाया था कि आजादी माँगने से नहीं मिलेगी, प्रार्थनाओं और प्रस्तावों से नहीं मिलेगी, आजादी के लिए लड़ना होगा, कुर्बानी करनी होगी, और खून देना होगा।

जीवन-भर वीरतापूर्वक लड़ने के कारण ही आपको देश ने 'पंजाब का शेर' कहा था। शेर की वीरता उसकी देह की विशालता में नहीं, बल्कि दिल की दिलेरी में होती है। वह निर्भय होता है, साहसी होता है और किसी के सामने झुकना नहीं जानता। इन गुणों से ही शेर, शेर कहलाता है। पंजाब के शेर लाला लाजपतराय में भी ये सभी गुण मौजूद थे

जन्म से लाजपतराय साधारण घर के थे। आजीविका के लिए आपने वकालत पास की, लेकिन कभी भी आपने वकालत से धन कमाकर आराम से बैठने की इच्छा नहीं की। धन कमाने में उनकी रुचि नहीं थी। जन्म से वैश्य होकर भी आपकी नसों में क्षत्रियोचित खून बह रहा था। प्रकृति से ही आप सदा दूसरों के सहायक और सेवक रहे। जन्म-भर आप देश और जनता की सेवा करते रहे।

आप अपने जन्म-स्थान हिसार से १८९२ में लाहौर आये तो वकालत करते थे, किन्तु आपका अधिकांश समय आर्यसमाज के शिक्षा-त्मक तथा सुधार-सम्बन्धी कार्यों को सफल बनाने में बीतता था। उन दिनों पंजाब में आर्यसमाज ही सार्वजनिक कार्यों में अग्रणी सभा थी।

पंजाब के सभी उत्कृष्ट नवयुवक आर्यसमाज के प्रगतिशील आदर्शों और नयी सुधार-योजनाओं से आकृष्ट हो रहे थे। लाला हंसराज ने अपने जीवन की बलि देकर दयानन्द-ऐंग्लो-वैदिक कालेज का बीज बोया था। लाला लाजपतराय ने इनके संस्थापन में क्रियात्मक योग दिया था। समाजों के उत्सव प्रतिवर्ष होते थे। उनमें अपने ओजस्वी भाषणों से लाला लाजपतराय धन-संग्रह का कार्य करते थे। प्रांतों के हिस्सों में घूम-घूमकर भी आपने कालेज की नींव को मजबूत बनाने में अनथक काम किया। उनकी भाषण-शैली पर जनता मुग्ध थी। उनकी सिंह-गर्जना श्रोताओं के दिल पर जादू का असर करती थी, उनसे प्रभावित होकर पुरुष अपनी जेबें खाली कर देते थे, स्त्रियाँ आभूषण उतारकर प्रसन्नतापूर्वक दान कर देती थीं। किसी ऊंचे लक्ष्य के लिए किया हुआ त्याग राष्ट्रीय चेतना को स्वयं जगाता है। लाला लाजपतराय ने जनता को त्याग करना सिखाया।

समाज के सुधार-सम्बन्धी कामों में भी आपने तन-मन लगा दिया। बाद में लाला लाजपतराय का कार्यक्षेत्र समाज से बदलकर राजनीति होगया, किंतु उनकी सेवाओं के ऋण से समाज कभी मुक्त नहीं हो सकता। पंजाब में आर्यसमाज को कल्पनातीत सफलता देने में लाला लाजपतराय का बड़ा हाथ था।

आपका कांग्रेस से पहला सम्पर्क तब हुआ जब १८८८ ई० में कांग्रेस का अधिवेशन इलाहाबाद में हो रहा था। उस समय आप भी नौजवान थे। आपने उन दिनों "सर सैयद अहमद के नाम खुला पत्र" लिखा था। उसे छपवाकर आप अपने हाथों से उसे कांग्रेस अधिवेशन में बाँट रहे थे।

तब से पाँच वर्ष बाद १८९३ ई० में कांग्रेस का अधिवेशन लाहौर में हुआ। इसके सभापति बने दादाभाई नौरोजी, जो उस समय ब्रिटिश

पार्लियामेन्ट में प्रथम भारतीय सदस्य थे। स्वागत-समिति के अध्यक्ष थे सरदार दयाल सिंह मजीठिया। लाला लाजपतराय तब स्वागत-समिति के मन्त्री नहीं थे, किन्तु सारा काम आप ही कर रहे थे। उस समय भी आप कांग्रेस के उत्साही स्वयंसेवक थे।

वकालत का काम करने के बाद जो समय शेष रह जाता था, उसे वह दयानन्द-ऐंग्लो-वैदिक कालेज के अर्पण कर देते थे। कालेज-कमेटी के मन्त्री आप ही थे। इसके अतिरिक्त उन्हें राजनीतिक लेख लिखने का भी व्यसन था। 'ट्रिब्यून' में आप उस समय के प्रश्नों पर प्रायः प्रति-सप्ताह अपनी सम्मति लिखा करते थे। कष्टपीड़ितों की सहायता में वह कभी नहीं चूकते थे। पंजाब में दुर्भिक्ष पड़ने पर आपने काँगड़ा तथा अन्य जिलों का दौरा किया और सहायता पहुँचाई। दुर्भिक्ष-ग्रस्त परिवारों के अनाथ बालकों के लिये आपने कई अनाथालय खुलवाए। फिरोजपुर के अनाथालय की नींव आपने ही रखी। आपके भाषणों में श्रोताओं को मुग्ध करने की शक्ति थी। उर्दू के आप धारा-प्रवाह वक्ता थे। अंग्रेजी पर भी आपका पूरा अधिकार था। इसलिए सामान्य जनता और विद्वानों में, दोनों जगह आपका सम्मान होता था।

राष्ट्रीय कार्यों में योग देने के बाद आपको कांग्रेस की इस नीति से ही सन्तोष नहीं था कि वर्ष में एक बार बड़े दिनों की छुट्टियों में इने-गिने नेता मिलकर कुछ प्रस्ताव पास कर लिया करें। आपकी इच्छा थी कि कांग्रेस जनता के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करे। यह तभी सम्भव था कि जब कांग्रेस जनता के कष्टों में सहानुभूति और सहायता का काम करती। आप स्वयं जनता के कष्टों की चिन्ता रखते थे और यथाशक्ति सहायता पहुँचाते थे।

राष्ट्रीय दृष्टि से जनता के साथ सम्पर्क बनाने के काम को अंग्रेजी

सरकार के अफसर पसन्द नहीं करते थे। किन्तु लाजपतराय को उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता की चिन्ता नहीं थी। आखिर वह दिन भी आ गया जब जनता के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का फल आपको सरकार का कोपभाजन बनकर भुगतना पड़ा। रावलपिंडी के किसानों को सरकार की लगान-वृद्धि की नीति से असन्तोष था। किसानों ने रावलपिंडी के वकीलों की सहायता ली। वकीलों ने किसानों का पक्ष लिया। लाजपतराय भी किसानों की पैरवी करने लाहौर से रावलपिंडी गये। वहाँ जिला मैजिस्ट्रेट से कहा-सुनी हो गयी। लालाजी अपमान सहने वाले व्यक्ति नहीं थे। मैजिस्ट्रेट के उत्तर में आपने भी कड़े शब्द कह दिये। मैजिस्ट्रेट ने रावलपिंडी के वकीलों को गिरफ्तार कर के जेल भिजवा दिया। लाजपतराय पर उस समय तो कोई अभियोग नहीं लगाया गया, किन्तु बाद में 'बंगाल रेगुलेशन' के अनुसार गिरफ्तार कर लिया गया। रावलपिंडी के वकीलों के मामले की जाँच पंजाब हाई-कोर्ट के जज मि० मांटेन्यू ने की, जिसने उन सबको छोड दिया। किन्तु लाला लाजपतराय को गिरफ्तार करके मॉडले भेज दिया गया। किस भयंकर अपराध पर उन्हें देश-निर्वासन का दण्ड दिया गया, यह प्रश्न अभी तक रहस्यमय बना हुआ है। प्रत्यक्षरूप से लाला लाजपतराय पर कोई अभियोग नहीं था। कवल पंजाब-सरकार की कल्पना में ही लाला जी भयानक राजद्रोही थे। राजद्रोह की कोई घटना प्रामाणिक रूप से पेश नहीं की जा सकती थी!

प्रत्यक्ष कारणों में केवल यही कारण था कि लाजपतराय कांग्रेस के नरमदली नेताओं से असन्तुष्ट थे। लोकमान्य तिलक के साथ मिलकर स्वराज्य के लिए जनता में जागृति उत्पन्न करने का समर्थन कर रहे थे। लोकमान्य को भी सरकार ने पूना में आतंकवादियों के पृष्ठ-पोषक होने के कल्पित अभियोग में पकड़ा था। लाला लाजपतराय

को भी इसी कल्पित अभियोग में गिरफ्तार कर लिया गया था।

सरकार के इस एक ही काम से लाला जी देश के प्रथम श्रेणी के नेताओं में गिने जाने लगे। जितनी प्रसिद्धि पाने में उन्हें शायद पन्द्रह वर्ष लग जाते, उतनी उन्हें सरकार की कृपा से दस दिन में प्राप्त हो गई। देश में असन्तोष की आँधी-सी चल गई। न्याय के लिए लंडन के दरवाजे खटखटाए गए। लंडन से पूछ-ताछ हुई। भारत के अंग्रेज अफसर इस काम का कोई संतोषजनक कारण पेश नहीं कर सके। परिणामतः भारत-सचिव ने लाला लाजपतराय की नज़रवन्दी को युक्तियुक्त न पाकर जेल से मुक्त करने का आदेश दिया। छः महीने के प्रवास के बाद सहसा लालाजी को लाहौर लाकर छोड़ दिया गया। उस दिन से लालाजी पंजाव के ही नहीं, देशभर के यशस्वी नेता वन गये। मांडले के प्रवास ने लाला लाजपतराय के जीवन में युगान्तर कर दिया।

मांडले की यात्रा के बाद उनके व्यक्तित्व में चमत्कारी प्रभाव आ गया। उनके शब्दों में विलक्षण शक्ति आ गई। उनकी राष्ट्रीयता में ओजस्विता भर गई। उनकी प्रतिष्ठा कांग्रेस के गणमान्य नेता भी करने लगे। अगले ही वर्ष उन्हें कांग्रेस की अध्यक्षता के लिये निमंत्रण दिया गया। किन्तु गोखले आदि नरम-दल के नेताओं के विरोध से आप सभापति नहीं बन सके। आप गरमदल के नेता थे। अगले कुछ वर्ष नरम-गरम दल के नेताओं का संघर्ष चलता रहा। १९१६ में लखनऊ कांग्रेस तक आपने और लोकमान्य तिलक ने कांग्रेस में विशेष भाग नहीं लिया। १९१६ में दोनों दलों का समझौता हो गया। कांग्रेस का लक्ष्य भारत के लिये 'औपनिवेशिक स्वराज्य' प्राप्त करना स्वीकार कर लिया गया।

इन दिनों लाला लाजपतराय ने विदेशों में भ्रमण किया। पहले

आप इंग्लैंड गये। वहाँ से अमेरिका गये। अमेरिका में आपने भारत की स्वाधीनता के लिये अनुकूल लोकमत बनाने के कई प्रयत्न किए। अमेरिका के लोकमत को ब्रिटिश साम्राज्य-नीति के विरुद्ध उकसाने तथा भारतीय स्वतन्त्रता के पक्ष में करने के लिए आपने साहित्य द्वारा बहुत प्रचार किया, अनेक भाषण दिये, अमेरिका के प्रमुख राजनीतिज्ञों से भेंट की और भारतीयों के प्रति सहानुभूति प्राप्त की।

यह सब काम आप बिना विशेष आर्थिक सहायता के कर रहे थे। स्वयं आर्थिक कष्ट में होते हुए भी आप भारतीय स्वाधीनता के लिए यथाशक्ति समय और धन व्यय कर रहे थे। भारत में उस समय लोकमान्य तिलक ने डाक्टर एनी बेसेन्ट के साथ होमरूल लीग की स्थापना की थी। लीग की ओर से एक शिष्टमंडल विदेशों में भारतीय पक्ष के प्रचार के लिये जाने वाला था। ब्रिटिश सरकार ने इस शिष्ट-मंडल को विदेश में जाने की आज्ञा नहीं दी। तब लोकमान्य ने अमेरिका में लाला लाजपतराय को इस कार्य के लिये लिखा और भारत से आर्थिक सहायता का प्रबन्ध भी किया। यह सहायता पाकर आपने द्विगुण उत्साह से अमेरिका में प्रचार-कार्य प्रारम्भ कर दिया। उन्हीं दिनों इस प्रचार के विरोध में ब्रिटिश सरकार ने एक अमेरिकन लेखिका मिस मेयो द्वारा भारत-विरोधी पुस्तक 'मदर इण्डिया' लिखवाई। लाला लाजपतराय ने उसके उत्तर में पुस्तक लिख-कर मिस मेयो की कालिख धोने का सफल प्रयत्न किया।

लाला लाजपतराय के कार्यों का विवरण ब्रिटेन और भारत भी पहुँचता रहा। ब्रिटिश सरकार दाँत पीसकर रह जाती थी। इसका बदला उसने तब लिया जब लाला लाजपतराय ने अमेरिका से भारत आने की आज्ञा माँगी। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें इंग्लैंड या भारत किसी

भी देश में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं दी। दोनों देशों के द्वार आपके लिये बन्द कर दिये गये, परिणाम यह हुआ कि युद्धकाल में आपको अमेरिका में ही रहना पड़ा।

युद्ध के बाद भारत में जब ब्रिटिश सरकार ने युद्ध में भारत की युद्ध-सम्बन्धी सेवाओं का पुरस्कार रौलट-ऐक्ट जैसे काले कानून से दिया और उसके प्रतिवाद में की गई सभाओं में निहत्थे लोगों को गोलियों से भूना गया, अमृतसर के जलियाँवाला बाग की भूमि निर्दोष स्त्री-पुरुषों के रक्त से लाल हो गई, तब भी लाजपतराय को अपने प्रान्त के देश-भाइयों के आँसू पोंछने के लिये भारत में आने की आज्ञा नहीं दी गई। इस निषेध का कोई प्रकट कारण नहीं बताया गया। भारत की लेजिस्लेटिव असेम्बली में कई बार प्रश्न किये गए:—

"Why was not Lajpat Rai allowed to return to India ?' "लाला लाजपतराय को भारत वापिस आने की आज्ञा क्यों नहीं दी गई ?"

इनके उत्तर में प्राय: एक मुहावरा बोला गया :—

"It would not be in the public interest to let him come back."

"सार्वजनिक हित की दृष्टि से उनका वापिस आना अभीष्ट नहीं था।"

इस प्रश्न का कभी स्पष्टीकरण नहीं हुआ कि लाला लाजपतराय के किन कार्यों ने उन्हें सरकार की दृष्टि में अपने देश में आने के अयोग्य बना दिया था। अन्त में लाला जी के अनेक अमेरिका व ब्रिटेन स्थित प्रभावशाली मित्रों के दबाव से लालाजी को अपने देश में वापिस जाने की आज्ञा दी गई।

यहां आकर वह असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित हो गए।

स्वास्थ्य खराब होते हुए भी आपने कई बार जेल-यात्रा की। स्वराज्य-दल की स्थापना पर आपने पंडित मोतीलाल जी का साथ दिया। उनके भाषणों को सदैव बहुत ध्यान से सुना गया। असेम्बली में उनकी गर्जना की गूंज बाहर तक जाती थी।

बाद में पं० मोतीलाल जी से किन्हीं विषयों पर मतभेद होने के कारण आपने पं० मदनमोहन मालवीय से मिलकर 'स्वतन्त्र-राष्ट्रीय-दल' बनाया, आपका विश्वास था कि हमें हिंदू समाज की आन्तरिक निर्बलताओं को सुधारते हुए ही आगे बढ़ना चाहिए। मोतीलाल जी विशुद्ध राजनीतिक थे। यह मतभेद इतना बढ़ गया था कि दोनों दलों ने निर्वाचन के समय अपने अलग-अलग प्रतिनिधि खड़े किये। लाला लाजपतराय दो स्थानों से उम्मेदवार खड़े हुए और दोनों स्थानों से चुने गए।

उन दिनों आपने राष्ट्र-सेवक नवयुवकों का दल तैयार करने के लिए लाहौर में 'लोक सेवक संघ' की स्थापना की। इसका कार्यक्रम गोखले द्वारा संस्थापित 'सर्वेंट आफ इंडिया सोसाइटी' के अनुसार था। 'तिलक स्कूल' नाम से आपने एक राष्ट्रीय शिक्षणालय भी खोला। लोकमान्य तिलक को आप बहुत आदर की दृष्टि से देखते थे। दोनों नेताओं के दृष्टिकोण में बहुत समानता थी।

उन्हीं दिनों आपने उर्दू में 'वन्देमातरम्' नाम से दैनिक और अंग्रेजी में 'पीपल्स' नाम से साप्ताहिक पत्र भी आरम्भ किये। दोनों पत्रों की नीति विशुद्ध राष्ट्रीय-नीति थी।

जन्म-भर जनता की सेवा में जीवन बिताने के बाद पंजाब-केसरी ने अपने प्राणों की आहुति भी इसी लोक-यज्ञ की पूर्ति में दे दी। उस दिन साइमन कमीशन के प्रति विरोध प्रदर्शित करने के लिये लाहौर की जनता लाहौर-रेलवे स्टेशन की ओर उमड़ पड़ी थी। लालाजी

सबके आगे थे। हथियारबंद पुलिस ने चारों ओर से जनता को घेर लिया था। कमीशन के आने पर जनता ने काले झण्डों से कमीशन का स्वागत किया। पुलिस ने निर्दयता से लाठियाँ बरसाईं। लाला लाजपतराय का स्वास्थ्य पहिले से ही कुछ अच्छा नहीं था। फिर भी आपने जनता का साथ दिया। लाठियाँ बरसने पर आपके कंधों और सीने पर भी लाठियों की बौछार हुई। आप घायल हो गये। यह घाव आपके सीने पर ही नहीं, दिल पर भी लगा था। पंजाब का शेर इस अपमानपूर्ण आघात से छटपटा कर रह गया। उसके इशारे पर पंजाब के नौजवान खून की नदियाँ बहा सकते थे, किन्तु उसने तो अहिंसा का व्रत लिया था। यह घाव बाहर न फूटकर अन्दर ही अन्दर गहरा होता गया और अन्त में उसने पंजाब-केसरी के प्राण ले लिए।

सच तो यह है कि लाला लाजपतराय पंजाब सरकार के हाथों शहीद हो गए। उनका बलिदान रणभूमि में आहत वीरों की तरह हुआ। जैसा वीरतापूर्ण जीवन था, वैसी ही वीरता-भरी मृत्यु भी हुई।



राजा राममोहनराय : ९ :

विद्या और बुद्धि इन दोनों की कृपा जिन व्यक्तियों पर होती है, राजा राममोहन राय उन्हीं प्रतिभाशाली विभूतियों में से थे। वे जिस युग में उत्पन्न हुए, वह भारत के स्वर्णिम इतिहास में एक काले अध्याय के समान था। काला इसलिए कि उन दिनों भ्रममूलक रूढ़ियाँ भारतीय समाज पर बहुत बुरी तरह से छा चुकी थीं, विद्या और ज्ञान उसकी कालिमा में लिपटकर ओझल हो चुके थे। उनके स्थान पर अविद्या और अज्ञान के भूत उचक-उचक कर लोगों को डरा रहे थे। अविद्या का आतंक इतना बढ़ चुका था कि लोग उसे ही विद्या, उसे ही ज्ञान और उसे ही परमलक्ष्य समझकर आर्य धर्म के अस्तित्व को भी भूल चुके थे, जिसका प्रकाश हमें ऋषियों की बपौती के रूप में मिला था। राजा राममोहन राय इसी पतन की प्रतिक्रिया बनकर भारतवर्ष में प्रकट हुए। अतः यदि उन्हें एक नवीन युग का प्रवर्तक कहा जाए तो अत्युचित न होगी। उनके सम्मुख दो काम थे—एक था कट्टर-पन्थियों की भ्रांति को दूर करना और दूसरा एक नये तथा लोक-कल्याणकारी मार्ग का प्रदर्शन करना। उन्होंने इन दोनों को एक साथ हाथ में लिया। यूँ तो समाज के सभी क्षेत्रों में काया-पलट की आवश्यकता थी, किन्तु राममोहन राय के हृदय पर जिस रोमांचकारी और वीभत्स दृश्य ने सबसे पहले प्रभाव डाला, वह था विधवाओं को धर्म के नाम पर जलती आग में फेंकने की प्रथा। इसे 'सती' होना कहा जाता था।

सती प्रथा का आरम्भ मुसलमान-युग में हुआ था, जबकि

भारतीय रमणियाँ अपनी अमूल्य पवित्रता को अत्याचारियों के हाथ लुटता जानकर स्वयंमेव चिता जलाकार उसमें स्वाहा हो जाती थीं। उस समय सती होना उचित रहा होगा, किन्तु अब मुसलमानी युग को ढले सैंकड़ों वर्ष बीत चुके थे और अंग्रेजी राज्य के उदय के साथ शान्ति की स्थापना हो चुकी थी। उस समय भी सती की प्रथा को जारी रखना पहले दर्जे की अज्ञानता थी। इस विषय में यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि सतीत्व और सतीप्रथा, ये दो अलग-अलग वस्तुऍं हैं। सतीत्व में तो नारी खुशी-खुशी धर्म की रक्षा के लिए अग्नि मे कूद पड़ती थी, किन्तु सतीप्रथा में जब कि नारी के धर्म पर किसी प्रकार की आँच आने का कोई भय न था, उसे बलात् अग्नि में फेंका जाता था। यह सतीत्व का पालन नहीं था, अपितु सतीत्व का तिरस्कार था। इसका कलंक भी पुरुष के माथे पर है! पुरुषों में भी वह पौराणिक ब्राह्मण-जाति इस प्रथा के लिए उत्तरदायी है, जो स्वयं धर्म की ठेकेदार बनकर धर्म की चोरबाजारी करती थी और दूसरों पर धर्म के नाम पर अनुचित पाबन्दियाँ लगाती थी।

भगवान की करनी देखिए, उसने ब्राह्मणों के अत्याचार रोकने के लिए एक ब्राह्मण को अपना उपकरण बनाया। इस ब्राह्मण का नाम था राममोहनराय। उन्होंने किस भावना से प्रेरित होकर सतीप्रथा का अन्त करना चाहा, यह बात भी कम करुणाजनक नहीं। उस घटना से पूर्व इतना जान लेना आवश्यक है कि इस महापुरुष को जन्म देने का सौभाग्य भी उसी बंगाल को है, जिसने हमें अरविन्द, सुभाष, टैगोर और जगदीशचन्द्र वसु सरीखे रत्न प्रदान किये हैं। राजा राममोहनराय का जन्म हुगली जिले के अन्तर्गत राधानगर ग्राम में हुआ था। इनके पिता रमाकान्त सिराजुदौला नवाब के यहाँ एक उच्च पद पर नौकर थे। रमाकान्त परम वैष्णव थे और राम-नाम का जाप प्रायः

करते रहते थे। राजा राममोहनराय की माता भी गुणवती, बुद्धिमती और धर्मपरायणा थी। सनातन धर्म में इनकी अटूट श्रद्धा थी। संसार के अन्य महापुरुषों की भाँति राममोहनराय ने भी मातृ भावनाओं से प्रेरित होकर अपनी आत्मा को महान् बनाया।

उस समय संस्कृत, अरबी और फारसी भाषा का प्रचार था। राममोहनराय ने कुछ समय तक संस्कृत भाषा का अध्ययन करके फारसी का अभ्यास आरम्भ कर दिया। शैशव-काल में उनकी असाधारण मेधा और तर्क-शक्ति का परिचय प्राप्त करके ग्रामवासी आश्चर्य करते थे। नौ वर्ष की अवस्था तक राममोहनराय ग्राम में ही पढ़ते रहे, तदनन्तर उनके पिता ने अरबी और फारसी का अध्ययन करने के लिए पटना भेज दिया। दो-तीन वर्ष में ही वे अपनी विलक्षण बुद्धि की सहायता से अरबी भाषा में पारंगत हो गये। कुरान के पाठ तथा मौलवी-मुल्लाओं के सहवास से उनके हृदय में एकेश्वरवाद का अंकुर उत्पन्न हो गया।

बारह वर्ष की अवस्था में पिता के आदेश से राममोहनराय संस्कृत का अध्ययन करने के निमित्त बनारस चले गए। अल्पकाल में ही वे प्राचीन आर्य-ग्रन्थों का स्वाध्याय करके घर लौट आए। मुसलमानों के सहवास से जो एकेश्वरवाद का अंकुर इनके हृदय में जम चुका था, वह शास्त्रप्रतिपादित ब्रह्मज्ञान से बढ़ने लगा। पिता-पुत्र के विचार भिन्न-भिन्न होने के कारण परस्पर विवाद भी हो जाता था। कभी-कभी दुःखी होकर रमाकान्त अपने पुत्र का तिरस्कार भी कर देते थे। सोलह वर्ष की आयु में राममोहनराय ने रूढ़िवादी धर्म के विरुद्ध आवाज़ उठाई। उनके क्रान्तिकारी तथा उन्नत विचारों ने कट्टरपंथियों में तहलका-सा मचा दिया। उनके उत्साह और विद्वता की सर्वत्र चर्चा होने लगी। कई लोग राममोहनराय से चिढ़ गए, जिनमें

प्रचार करते थे। आज भी भाषा साहित्य में वे बंगला गद्य के सूत्रधार माने जाते हैं। यह प्रचार तो उनके अन्तिम लक्ष्य के लिए भूमिका-मात्र थी। वे अपनी भावज का दारुण क्रन्दन न भूले थे। उस कोमलांगी की चीखें अब भी उन्हें पुकार-पुकार कर कह रही थीं कि विधवाओं के भाग्य का कोई उपाय करो। इस उद्देश्य को सामने रख कर राममोहनराय एक बार विलायत जाना आवश्यक समझते थे क्योंकि सतीप्रथा को रोकने का एकमात्र साधन सतीप्रथा-विरोधी कानून ही हो सकता था और कानून के उच्चाधिकारी विलायत में अधिष्ठित थे। वे किसी सुअवसर की खोज में थे कि दिल्ली के बादशाह ने उन्हें अपना राजदूत बनाकर विलायत भेजने का निमन्त्रण भेजा। यही तो राममोहनराय की हार्दिक इच्छा थी। वे शीघ्र विलायत के लिए चल पड़े।

विद्वान पुरुषों को अपने लिए मार्ग बनाने में कभी कठिनाई नहीं होती। उनकी विद्वत्ता की प्रखर रोशनी स्वयमेव उनका मार्ग प्रशस्त करती है। इंग्लैंड में भी राममोहनराय का अभूतपूर्व स्वागत हुआ। उन्होंने राजकीय काम के साथ-साथ अपने प्रचार का कार्य भी जारी रखा। यहाँ भी उनके प्रशंसकों की संख्या कम न थी। वे जिस सती-प्रथा का अन्त करने के लिए घर से निकले थे, आखिर वह कानून द्वारा बन्द हो गई। शायद राममोहनराय का जन्म केवल इसी कार्य के सम्पादन के लिए हुआ था, क्योंकि इसके सम्पन्न होते ही वे अधिक देर तक जीवित न रहे। इंग्लैंड में ही २७ सितम्बर १८३२ को वे परब्रह्म परमेश्वर की ज्योति में समा गये।

राजा राममोहनराय ने जिस समय प्रचार का कार्य आरम्भ किया था, वह समय आज के समान अनुकूल न था। समाज में कई

भ्रममूलक रूढ़ियाँ उसे जकड़ चुकी थीं, जिनके विरुद्ध चूँ तक करने का किसी को साहस न होता था। एक-एक पंडित, एक-एक ब्राह्मण और एक-एक नागरिक उस समय धर्म का ठेकेदार बनकर फिरता था, चाहे उसे स्वयं भी पता न था कि धर्म किस चीज़ का नाम है। इस धर्मान्धता का परिणाम यह हुआ कि सुधार की आवाज़ उठाने वाले राममोहनराय को सब से पहले उसके पिता ने ठुकराकर घर से बाहिर निकाला था। पिता का अपने हृदय के टुकड़े पुत्र को ठुकरा देना उस समय की धर्मान्धता का एक ज्वलंत उदाहरण है। इस कठोरता की तुलना में राममोहनराय की तत्परता और समाज-सेवा में लगन उनकी महत्ता का परिचय देती है। वे घर से ठुकराये गये, लोगों ने उन्हें मारने के लिए यत्न किये, किन्तु राममोहनराय ने अपने मारने और धमकाने वालों के उद्धार का ही बीड़ा उठाया—कितनी उच्च भावना है!

क्या दीन-दुखिया, विधवा और अनपढ़ के दुःख से दुखित होने वाले राममोहनराय को नास्तिक कहना उन पर अन्याय करना न होगा? लोग उन्हें नास्तिक कहकर पुकारते हैं, क्योंकि उन्होंने मन्दिर में घंटे बजाने और शिलाओं के आगे माथा रगड़ने का उपदेश न देकर हाड़-मांस के बने हुए विधवा, अनाथ, अनपढ़ और दुखियों की उन्नति का मार्ग खोला। जो भगवान के बनाये प्राणियों को भगवान के सत्य का उपदेश देता है वही तो आस्तिक होता है न! इस कसौटी पर कसने से राममोहनराय की आस्तिक भावना किसी भी ऋषि-मुनि से कम नहीं सिद्ध होती। उन्होंने भगवान के सत्य, शिव और सुन्दर रूप की माला न फेरकर उसे प्रकट रूप में करके दिखाया। वे महान् थे!

—

राजा राममोहनराय ने सती-प्रथा को बन्द करके भारत का एक बड़ा भारी कलंक धो दिया। उन्होंने अपने जीवनकाल में जिस ब्रह्मसमाज नाम की संस्था की नींव डाली थी, वह आज भी उनके आदर्शो और पद्धतियों का प्रचार कर रही है।

चन्द्रशेखर वेंकट रमन : १० :



विचार किया जाए तो ज्ञान और विज्ञान ये दो विभिन्न वस्तुएँ हैं ही नहीं। ज्ञान का अभिप्राय है कि मनुष्य सूक्ष्म शक्तियों की खोज करे और विज्ञान का अर्थ है कि स्थूल जगत की छिपी हुई शक्तियों का पता लगाये। स्वभावतः एक के साथ दूसरे का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक की खोज में निकला हुआ बटोही प्रायः दूसरी शक्ति को मार्ग में अनायास ही पा लेता है। शायद यही कारण था कि हमारे पूर्वज जहाँ आत्म-ज्ञान में पारंगत थे वहां विज्ञान की दौड़ में भी वे किसी से पिछड़े हुए न थे। किन्तु समय के फेर से भारत दुर्दिन-ग्रस्त हुआ।

> उन्नति तथा अवनति प्रकृति का
> नियम एक अखण्ड है।
> चढ़ता प्रथम जो व्योम में गिरता
> वही मार्त्तण्ड है॥

राष्ट्र-कवि की यह वाणी भारत पर भी लागू हुई और उसकी उन्नति का चमकता हुआ सितारा एक बार धुंधले कुहरे में छिप गया। शताब्दियों बाद जब यह कुहरा हटा तो एक नहीं अनेकों सितारे भारत के आकाश में जगमगा उठे। उन सितारों में एक हैं डाक्टर चन्द्रशेखर रमन। वे भारत के उच्चतम वैज्ञानिकों में से एक हैं और संसार के वैज्ञानिक क्षेत्र में बहुत नाम कमा चुके हैं।

'वैज्ञानिक' शब्द सुनते ही लोगों की आँखों के सामने एक ऐसे व्यक्ति का चित्र घूम जाता है जिसकी खोपड़ी के सब बाल उड़

चुके हों, आँखों पर एक सुनहरी चश्मा शोभा पा रहा हो और कोट-पतलून के वेश में वह अपनी अनुसंधानशाला में बैठा अणु-बम्ब जैसे किसी विनाशकारी अस्त्र का आविष्कार करने में जुटा हो।

लेकिन स्मरण रहे कि यह चित्र उन पाश्चात्य वैज्ञानिकों का है जो वैज्ञानिकों की खाल में असुर बनकर घूमते हैं। विज्ञान को सही तरीके से किस प्रकार मानव की उन्नति के लिये बरता जाता है, यह असुरों का दिमाग नहीं सोच सकता। यह काम है देवताओं का और ज्ञानियों का। हमारे डाक्टर रमन इसी देवता कोटि के एक वैज्ञानिक हैं। वे इतने सादे और इतने नम्र हैं कि पूरे तपस्वी जान पड़ते हैं। पहरावा, रहन-सहन और बोल-चाल सबसे सादगी और शान्त स्वभाव का परिचय मिलता है। वे अपना जीवन भारतीय मुनियों के समान विताते हैं और उनका अधिकतर समय विद्वानों की संगति में बीत जाता है। वे एक पुजारी की भाँति विज्ञान की साधना करते हैं, इसलिये उनके हृदय में विज्ञान का इतना प्रकाश हो चुका है कि विज्ञान की कठिन से कठिन गुत्थियाँ सुलझाने में उन्हें कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती। इसी अनोखी प्रतिभा के फलस्वरूप उन्हें वैज्ञानिक क्षेत्र में संसार का सबसे बड़ा पुरस्कार 'नोबल पुरस्कार' मिल चुका है।

प्रश्न हो सकता है कि संसार का इतना बड़ा वैज्ञानिक किसी बड़े बाप का बेटा होगा। यदि बड़े बाप से अभिप्राय किसी धनाढ्य रईस से है तो यह दुर्भाग्य डाक्टर रमन को प्राप्त नहीं था। दुर्भाग्य इस लिये कि यदि महलों में उत्पन्न होकर फूलों की शैय्या पर विश्राम पाते तो वे शायद विज्ञान की साधना न कर पाते। यही तो प्रभु की लीला है कि वह बुद्धि और प्रतिभा साधारण और निर्धन व्यक्तियों के हवाले करता है और कीचड़ में कमल उपजाता है। ठीक इसी तरह डाक्टर रमन ने भी साधारण परिवार में जन्म लेकर यह

सिद्ध कर दिया कि उन्नति का मार्ग केवल धनियों के लिये ही नहीं खुला, अपितु प्रत्येक उद्यमी व्यक्ति इस राह को अपना सकता है।

महान् प्रतिभाशाली विज्ञानवेत्ता डा० चन्द्रशेखर वेंकट रमन का जन्म १७ नवम्बर १८८२ ई० को दक्षिण भारत के त्रिचनापली नामक नगर में हुआ था। इनके पूर्वज तंजौर जिले के अय्यमपेट के निकटवर्ती गाँव के जमींदार थे। ब्राह्मण होते हुए भी वे लोग खेती-किसानी का काम करते थे। वेंकट रमन के पिता श्री चन्द्रशेखर अय्यर पैतृक गाँव को छोड़कर नगर में रहने लगे थे। पैतृक गाँव को छोड़ने के साथ ही उन्होंने पूर्वजों के व्यवसाय को छोड़कर पाश्चात्य शिक्षा को भी अपनाया था। वेंकट रमन अपने पिता के दूसरे पुत्र हैं।

वेंकट रमन की माता श्रीमती पार्वती अम्मल त्रिचनापली के सुप्रसिद्ध शास्त्री परिवार की सुकन्या थीं। यह परिवार अपने संस्कृत के ज्ञान और पांडित्य के लिये दूर-दूर प्रख्यात था। कहा जाता है कि पार्वती अम्मल के पिता अपनी तरुणाई में न्याय-शास्त्र के अध्ययन की उत्कट अभिलापा लेकर त्रिचनापली से सुदूर बंगाल में स्थित, संस्कृत और नैयायिकों के प्रमुख विद्यापीठ, नदिया तक पैदल ही चले गये थे। अस्तु, बालक वेंकट रमन के पिता और नाना में ज्ञान-प्राप्ति की जो उत्कट अभिलापा थी और उसके लिये उन लोगों ने जिस साहस और दृढ़ता का परिचय दिया था, भावी जीवन में वेंकट रमन ने उसका अनुसरण किया।

वेंकट रमन के जन्म के समय उनके पिता एक हाई स्कूल में शिक्षक का काम करते थे और बी० ए० की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे। उन्होंने शीघ्र ही भौतिक विज्ञान में बी० ए० की डिग्री प्राप्त कर ली। श्री अय्यर भौतिक-विज्ञान के साथ ही संगीत कला में भी बड़ी अभिरुचि रखते थे और वीणा बजाने में बहुत

सिद्धहस्त थे। अपने अवकाश के समय में वे दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध वीणा बजाने वाले श्री वैद्यनाथ शास्त्री के भी पास बैठा करते थे। इसके फलस्वरूप श्री वेंकट रमन ने भी अपने बाल्यकाल में ही संगीत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वेंकट रमन ने कुशाग्रबुद्धि होने के कारण केवल संगीत-प्रेम का ही पाठ नहीं पढ़ा, अपितु संगीत का वैज्ञानिक अध्ययन प्राप्त करने की भी प्रेरणा प्राप्त की। भविष्य में उन्होंने संगीत और वीणा सम्बन्धी जो गवेषणाएँ कीं, उनका अधिकाँश श्रेय वाल्यकाल में अंकुरित होने वाले इस संगीत-प्रेम ही को दिया जा सकता है। इतना ही नहीं, वेंकट रमन की वर्तमान ख्याति का वहुत कुछ श्रेय वाल्यकाल में पिता से प्राप्त शिक्षा को प्राप्त है।

वास्तव में वेंकट रमन अपने वाल्यकाल ही से 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' वाली कहावत चरितार्थ करते थे। अल्पायु में ही उनमें असाधारण प्रतिभा के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे थे। वे जन्म जात वैज्ञानिक थे और उनकी रुचि विज्ञान की ओर वहुत थी। विज्ञान के ग्रंथ पढ़ने में वे इतने लीन रहते थे कि अपने स्वास्थ्य तक की चिन्ता न रहती थी। हाई स्कूल कक्षाओं में पहुँचने तक वालक रमन ने भौतिक-विज्ञान के कई महत्वपूर्ण ग्रंथों को समाप्त कर डाला। केवल वारह वर्ष की आयु में ही उन्होंने मैट्रिक परीक्षा वड़े सम्मान के साथ उत्तीर्ण कर ली। जव तरुण रमन एफ० ए० की परीक्षा पास करने के वाद आगे की कक्षाओं में अध्ययन करने के लिए कालेज में पहुँचे तो कालेज के सभी प्रोफेसरों का ध्यान उन्होंने अपनी ओर आकर्षित किया। प्रोफेसर लोग वेंकट रमन के परिपक्व ज्ञान को देखकर आश्चर्य चकित हो गये और यह वात वास्तव में थी भी आश्चर्य की। जिस वालक की आयु और कद को देखकर कोई उनको वी० ए० का छात्र होने का अनुमान भी न कर

सकता हो, वह दूसरे सब छात्रों से बहुत बढ़-चढ़कर सिद्ध हो और असाधारण प्रतिभा का परिचय दे, उसे देखकर सबका विस्मयमुग्ध हो जाना स्वाभाविक ही है। जिस दिन वे पहले-पहल कालेज गये, उनको देखकर प्रोफेसरों को बड़ा विस्मय हुआ। वेंकट रमन इतने छोटे, दुबले-पतले और नाटे थे कि उनके यह बतलाने पर भी कि वे बी० ए० के छात्र हैं, साधारणतया किसी को विश्वास न होता था।

वेंकट रमन के घर वालों की यह हार्दिक इच्छा थी कि वे किसी सरकारी विभाग में उच्च पदस्थ अधिकारी बनें। परिवार का कोई और सदस्य सरकारी नौकरी में था भी नहीं और वेंकट रमन इसके लिए सबसे उपयुक्त समझे गये। सब सम्बन्धियों और शुभचिन्तकों ने वकट रमन को इतिहास लेकर बी० ए० पास करने का परामर्श दिया, ताकि आगे चलकर उन्हें प्रतियोगिता-परीक्षा पास करने में सुभीता रहे। परन्तु वेंकट रमन इसके लिए तत्पर न हुए। वे निःशंक हो बोले कि 'मैं तो उसी विषय का अध्ययन करूँगा जो मुझे अधिक प्रिय है।' उन्होंने इतिहास के स्थान पर विज्ञान का ही अध्ययन जारी रखा। विज्ञान विषय का अच्छा ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने कालेज पुस्तकालय की भौतिक-विज्ञान सम्बन्धी प्रायः सभी प्रामाणिक पुस्तकें पढ़ डालीं। वे इन पुस्तकों में जिन प्रयोगों का हाल पढ़ते थे, उन्हें प्रयोगशाला में स्वयं भी करके देखने का प्रयत्न करते। भौतिक-विज्ञान के साथ ही साथ वे गणित और यन्त्र-विज्ञान का भी अध्ययन करते रहते। आगे चलकर इससे उनको भौतिक विज्ञान सम्बन्धी सन्धान-कार्य में बड़ी सहायता मिली। बी० ए० पास करते समय सारे विश्वविद्यालय में वे अकेले विद्यार्थी थे जो प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे। इस उपलक्ष्य में उन्हें विश्वविद्यालय की ओर से कई पारितोषिक और पदक प्रदान किये गये। इसके बाद एम० ए० की

तैयारी करते हुए ही उनके दो लेख लन्दन से प्रकाशित होने वाली प्रतिष्ठित वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे।

जनवरी १९०७ में वेंकट रमन एम० ए० की परीक्षा में सम्मिलित हुए और उसे अद्वितीय सम्मान के साथ पास किया। सारे विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान में अपने समकालीन छात्रों ही से नहीं, अपितु अपने पूर्व छात्रों से भी कहीं अधिक नम्बर पाकर उन्होंने यूनिवर्सिटी का रिकार्ड तोड़ दिया। वे विश्वविद्यालय में केवल प्रथम ही नहीं आये, अपितु प्रथम श्रेणी में भी थे और भौतिक-विज्ञान लेकर प्रथम श्रेणी में आने वाले मद्रास विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम छात्र थे। कालेज जीवन में श्री रमन ने जिस असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया वह उनके भावी उज्ज्वल जीवन की एक झलक मात्र थी।

उस समय एम० ए० एक बहुत बड़ी उपाधि मानी जाती थी, किन्तु रमन ने इतने पर ही बस न की। वे आगे पढ़ने के लिये विलायत जाना चाहते थे और सरकार ने रमन सरीखे प्रतिभाशाली विद्यार्थी को छात्रवृत्ति भी देना स्वीकार लिया। किन्तु वैद्यों ने उन्हें समुद्र-यात्रा का परामर्श न दिया। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि उद्यमी व्यक्ति कठिन मार्ग से ही राह निकालते हैं। रमन ने जब देखा कि बिना पैसे के आगे विज्ञान का स्वाध्याय और वैज्ञानिक परीक्षण नहीं किये जा सकते तो उन्होंने अर्थ-विभाग की एक परीक्षा दे डाली। परीक्षा के सभी विषय उनके लिये अपरिचित और नवीन थे, किन्तु उनकी प्रखर-प्रतिभा के सामने सब इतने सरल बन गये कि रमन उस परीक्षा में भी प्रथम आये और सहायक अकाउँटेंट-जनरल के पद पर नियुक्त हो गये।

श्री रमन की मनचाही वस्तु उनके हाथ लग गई। वे अपनी नौकरी भी निभाते और विज्ञान-साधना भी करते। अब तक तो

जीवन-क्षेत्र में वे अकेले ही थे, किन्तु अब शीघ्र ही एक सुयोग्य पत्नी ने श्री रमन के जीवन में पदार्पण किया। गृहस्थ के सरस जीवन ने श्री रमन की कुमारावस्था का स्थान तो ले लिया फिर भी उनका विद्या-प्रेम पहिले की तरह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। विवाह से पहिले भी उनके कई लेख इंग्लैंड की प्रमुख वैज्ञानिक पत्रिकाओं में छप चुके थे, किन्तु विवाह के उपरान्त वे आविष्कार की ओर झुक पड़े। एक ओर तो आप कलकत्ता की 'भारतीय विज्ञान परिषद्' के सदस्य बन गये और दूसरी ओर वहीं के 'साइंस कालेज' के आचार्य बनने के आशय से उन्होंने सरकारी पद से त्याग-पत्र दे दिया। यह उनके जीवन का स्वर्ण-काल था। शायद वे चिरकाल से इसी प्रतीक्षा में थे कि कब वे तन, मन और धन से विज्ञान की आराधना करने का अवसर पाएँगे। चिर-अभिलषित अवसर को पाकर श्री रमन ने विज्ञान की दिशा में अभूतपूर्व आविष्कार कर दिखाये।

उनकी पहली सबसे महत्वपूर्ण खोज वाद्य-यंत्रों से सम्बन्धित है। उन्होंने वीणा, तानपूरा, मृदंग आदि भारतीय वाद्य-यंत्रों और वायोलिन, पियानो आदि विदेशी वाद्य-यंत्रों की आवाज़ के विषय में बहुत-सी नई खोजें कर दिखाईं। इसी प्रकार संगीत की गूंज, और ध्वनि आदि के विषय में कई नई बातें खोजकर संगीत के अध्ययन के लिये कई नये यंत्र भी बनाये। शब्द-विज्ञान विषयक इन खोजों के कारण डा० रमन का नाम संसार के बड़े वैज्ञानिकों में गिना जाने लगा।

लगे हाथ डाक्टर रमन ने इन्द्रधनुष के रंगों तथा आकाश के रंगों के विषय में बहुत ही महत्वपूर्ण खोज की। समुद्र का नीला रंग, प्रकाश की किरणें, एक्सरे, चुम्बक आदि कोई भी विषय श्री रमन से अछूता न रहा। इन सब विषयों पर उन्होंने प्रमाणिक और मौलिक

तैयारी करते हुए ही उनके दो लेख लन्दन से प्रकाशित होने वाली प्रतिष्ठित वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे।

जनवरी १९०७ में वेंकट रमन एम० ए० की परीक्षा में सम्मिलित हुए और उसे अद्वितीय सम्मान के साथ पास किया। सारे विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान में अपने समकालीन छात्रों ही से नहीं, अपितु अपने पूर्व छात्रों से भी कहीं अधिक नम्बर पाकर उन्होंने यूनिवर्सिटी का रिकार्ड तोड़ दिया। वे विश्वविद्यालय में केवल प्रथम ही नहीं आये, अपितु प्रथम श्रेणी में भी थे और भौतिक-विज्ञान लेकर प्रथम श्रेणी में आने वाले मद्रास विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम छात्र थे। कालेज जीवन में श्री रमन ने जिस असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया वह उनके भावी उज्ज्वल जीवन की एक झलक मात्र थी।

उस समय एम० ए० एक बहुत बड़ी उपाधि मानी जाती थी, किन्तु रमन ने इतने पर ही बस न की। वे आगे पढ़ने के लिये विलायत जाना चाहते थे और सरकार ने रमन सरीखे प्रतिभाशाली विद्यार्थी को छात्रवृत्ति भी देना स्वीकार लिया। किन्तु वैद्यों ने उन्हें समुद्र-यात्रा का परामर्श न दिया। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि उद्यमी व्यक्ति कठिन मार्ग से ही राह निकालते हैं। रमन ने जब देखा कि बिना पैसे के आगे विज्ञान का स्वाध्याय और वैज्ञानिक परीक्षण नहीं किये जा सकते तो उन्होंने अर्थ-विभाग की एक परीक्षा दे डाली। परीक्षा के सभी विषय उनके लिये अपरिचित और नवीन थे, किन्तु उनकी प्रखर-प्रतिभा के सामने सब इतने सरल बन गये कि रमन उस परीक्षा में भी प्रथम आये और सहायक अकाउंटेंट-जनरल के पद पर नियुक्त हो गये।

श्री रमन की मनचाही वस्तु उनके हाथ लग गई। वे अपनी नौकरी भी निभाते और विज्ञान-साधना भी करते। अब तक तो

जीवन-क्षेत्र में वे अकेले ही थे, किन्तु अव शीघ्र ही एक सुयोग्य पत्नी ने श्री रमन के जीवन में पदार्पण किया। गृहस्थ के सरस जीवन ने श्री रमन की कुमारावस्था का स्थान तो ले लिया फिर भी उनका विद्या-प्रेम पहिले की तरह उत्तरोत्तर वढ़ता ही गया। विवाह से पहिले भी उनके कई लेख इंग्लैंड की प्रमुख वैज्ञानिक पत्रिकाओं में छप चुके थे, किन्तु विवाह के उपरान्त वे आविष्कार की ओर झुक पड़े। एक ओर तो आप कलकत्ता की 'भारतीय विज्ञान परिषद्' के सदस्य वन गये और दूसरी ओर वहीं के 'साइंस कालेज' के आचार्य वनने के आशय से उन्होंने सरकारी पद से त्याग-पत्र दे दिया। यह उनके जीवन का स्वर्ण-काल था। शायद वे चिरकाल से इसी प्रतीक्षा में थे कि कब वे तन, मन और धन से विज्ञान की आराधना करने का अवसर पाएँगे। चिर-अभिलपित अवसर को पाकर श्री रमन ने विज्ञान की दिशा में अभूतपूर्व आविष्कार कर दिखाये।

उनकी पहली सवसे महत्वपूर्ण खोज वाद्य-यंत्रों से सम्वन्धित है। उन्होंने वीणा, तानपूरा, मृदंग आदि भारतीय वाद्य-यंत्रों और वायोलिन, पियानो आदि विदेशी वाद्य-यंत्रों की आवाज़ के विषय में वहुत-सी नई खोजें कर दिखाई। इसी प्रकार संगीत की गूँज, और ध्वनि आदि के विषय में कई नई वातें खोजकर संगीत के अध्ययन के लिये कई नये यंत्र भी वनाये। शब्द-विज्ञान विषयक इन खोजों के कारण डा० रमन का नाम संसार के वड़े वैज्ञानिकों में गिना जाने लगा।

लगे हाथ डाक्टर रमन ने इन्द्रधनुष के रंगों तथा आकाश के रंगों के विषय में वहुत ही महत्वपूर्ण खोज की। समुद्र का नीला रंग, प्रकाश की किरणें, एक्सरे, चुम्वक आदि कोई भी विषय श्री रमन से अछूता न रहा। इन सव विषयों पर उन्होंने प्रमाणिक और मौलिक

खोजें कीं। उनके सभी आविष्कारों की प्रशंसा देशी और विदेशी वैज्ञानिकों ने मुक्तकण्ठ से की। किन्तु डाक्टर रमन का सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक कार्य 'रमन-प्रभाव' की खोज है। इसकी गणना संसार के कुछ उत्कृष्ट वैज्ञानिक अनुसन्धानों में की जाती है। रमन महोदय के इस कार्य को संसार भर के वैज्ञानिक बड़ी प्रतिष्टा की दृष्टि से देखते हैं। वैज्ञानिक अनुसन्धानों में एक प्रख्यात् ब्रिटिश आलोचक के शब्दों में 'रमन-प्रभाव' से अन्वेपण का मार्ग उतना ही प्रशस्त हो गया है जितना कि 'एक्स-किरणों' के आविष्कार तथा रेडियो-एक्टिविटी सम्बन्धी प्रारम्भिक कार्यों से हुआ था। गणित-शास्त्रियों, भौतिक-विज्ञान विशारदों तथा रासायनिकों, इन तीनों ही श्रेणियों के वैज्ञानिकों ने डाक्टर रमन के इस महत्त्वपूर्ण कार्य का हार्दिक स्वागत किया। इस अन्वेपण के उपलक्ष्य में उन्हें संसार-प्रसिद्ध 'नोवेल पुरस्कार' प्राप्त हो चुका है। 'रमन प्रभाव' क्या है, इसका विशद वर्णन तो अनेक पृष्ठ भी नहीं कर सकते, फिर भी इतना जान लेना पर्याप्त है कि सूर्य के प्रकाश अथवा अन्य साधारण श्वेत प्रकाश में कई रंगों की किरणों को साधारण काँच में से गुजार कर पृथक् किया जा सकता है। श्री रमन ने अपने परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया है कि प्रकाश का जो रंग हमें साधा-रणतया दीखता है उसे 'परीक्षेपण' नामक एक वैज्ञानिक क्रिया द्वारा वदला भी जा सकता है। उनके इस अनुसंधान के आधार पर आकाश और अन्यान्य नक्षत्रों के विपय में कई महत्वपूर्ण खोजें होने की सम्भावना है। वैज्ञानिकों के लिये अनुसंधान का एक नवीन क्षेत्र खुल गया है।

इन आविष्कारों तथा इनसे पूर्व की गई वैज्ञानिक सेवाओं के आधार पर भारत के और विदेशों के अनेकों विश्वविद्यालयों ने

डाक्टर रमन को विविध उपाधियां दीं और उन्हें कई वैज्ञानिक परिषदों का सम्मानित सदस्य बनाया।

श्री रमन ने स्वयं अनुसंधान करने और अपने विद्यार्थियों को मौलिक अनुसंधान करने को प्रेरित करने के अतिरिक्त विज्ञान की और भी बहुमूल्य सेवाएँ कीं। वे कई वर्षों तक भारत की औद्योगिक उन्नति के विषय में अनेक महत्वपूर्ण अनुसंधान करते रहे। औद्योगिक अनुसंधानों का श्रीगणेश उन्होंने कलकत्ता के साइंस एसोसियेशन' की प्रयोगशाला में किया। वे अनुसंधान केवल सैद्धांतिक ही नहीं, अपितु व्यावहारिक महत्व के भी सिद्ध हुए ह।

वे विज्ञान के अतिरिक्त इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के भी पंडित हैं। भारत की कई भाषाओं के साथ ही वे योरुप की भी कई भाषाओं में प्रवेश रखते हैं। उनके समान उनकी पत्नी भी भारत की ८-१० भापाओं को जानती हैं और वीणा बजाने में विशेप पटु हैं।

श्री वेंकट रमन ने कई बार विदेशों की यात्रा की। लगभग सभी सभ्य देशों ने उन्हें निमंत्रण देकर, अपने यहाँ बुलाकर उनका आदर-सत्कार किया। उन्होंने संसार की बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक संस्थाओं के सम्मेलनों में भाग लिया। अब वे विश्व-प्रसिद्ध वैज्ञानिक के रूप में भारत के गौरव को बढ़ा रहे हैं।

आजकल श्री रमन बंगलौर की प्रसिद्ध संस्था 'इण्डियन इंस्टिच्यूट आव साइन्स' के अध्यक्ष ह और अनुसंधान का काम कर रहे हैं।

जगदीशचन्द्र वसु : ११ :



आधुनिक समय में जिन कतिपय प्रतिभाशाली भारतीय महा-पुरुषों ने विश्व के ज्ञान-भंडार को अपनी प्रतिभा से समृद्धिशाली बनाया है, विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र वसु उन्हीं में से एक थे। जिन महापुरुषों ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन किया और नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा संसार को आश्चर्य-चकित कर दिया है, जिन्होंने संसार में नवीन प्रकाश की ज्योति फैलाई है, नये ज्ञान को जन्म दिया है और जिनके कार्यों से प्रेरणा पाकर विज्ञान-संसार में एक सर्वथा नवीन युग का प्रादुर्भाव हुआ है, सर जगदीशचन्द्र वसु उन्हीं थोड़े से महापुरुषों में थे। वसु महोदय उन इने-गिने भारतीयों में से थे, जिन्होंने अपने कार्यों से सभ्य संसार की दृष्टि में भारत का मस्तक उन्नत किया है। वास्तव में अपनी वैज्ञानिक सफलताओं से अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने वाले वे प्रथम भारतीय थे। वसु महोदय ने जीवन के रहस्य का उद्‌घाटन करके प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियों के सिद्धान्तों को आधुनिक, वैज्ञानिक रीतियों से प्रत्यक्ष सिद्ध करके विज्ञान के संसार में एक सर्वथा नवीन क्रांति उत्पन्न करदी थी। उन्होंने अपने आविष्कारों द्वारा भारत की आध्यात्मिकता और पश्चिम की भौतिकता का समन्वय किया था और अपने वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा भारत की सहस्रों वर्ष पुरानी संस्कृति को पुनः पल्लवित किया था।

सर जगदीशचन्द्र वसु का जन्म ३० नवम्बर १८५८ ई० को

बंगाल में ढाका जिले के विक्रमपुर कस्बे के एक बंगाली परिवार में हुआ था। उनके परिवार में अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति हो चुके थे। उनके पिता बाबू भगवानचन्द्र वसु डिप्टी कलेक्टर थे। उन दिनों भारतीयों के लिए डिप्टी कलेक्टरी ही सब से बड़ा पद समझा जाता था। इतने उच्च सरकारी पद पर होते हुए भी उन्होंने बालक जगदीश को अंग्रेजी स्कूल में न भेजकर देहाती पाठशाला में ही भेजना उचित समझा। बालक जगदीश को ग्रामीण पाठशाला में भेजने का मुख्य उद्देश्य उन्हें मातृभाषा की शिक्षा देना और उसके प्रति प्रेम उत्पन्न करना था। पाठशाला की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के बाद वे कलकत्ता के सेंट जेवियर स्कूल में बी० ए० तक पढ़े। यहाँ पढ़ते हुए उनकी अभिरुचि भौतिक विज्ञान में बहुत हो गई।

वे आगे पढ़ने के लिए विलायत जाना चाहते थे और संयोगवश उन दिनों उनके पिता के पास पर्याप्त पूंजी न थी; अतः माता ने अपने सारे आभूषण बेचकर भी जगदीशचन्द्र वसु को इंग्लैंड भेजा। भारत में उत्तीर्ण की हुई बी० ए० परीक्षा के बाद उन्हें इंग्लैंड की बी० ए० परीक्षा अनिवार्य रूप से पास करनी पड़ी। इसमें अच्छा स्थान प्राप्त करने के उपलक्ष्य में उन्हें प्रकृति-विज्ञान का विशेष अध्ययन करने के लिए एक छात्रवृत्ति भी दी गई। उन्होंने शीघ्र ही बी० एस० सी० परीक्षा भी पास करली! इसी समय में उन्होंने उस समय के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के अधिक-से-अधिक सम्पर्क में आने की चेष्टा की और उनकी कार्य-प्रणाली का भी सूक्ष्म निरीक्षण किया। वास्तव में उस समय किसी को यह पता भी न था कि यही विद्यार्थी जगदीश आगे चलकर विज्ञान के प्रकाश से संसार को चकित कर देगा।

इंग्लैंड से, अपनी शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त जब वे स्वदेश लौटे तो उनकी आयु २५ वर्ष की थी। विलायत से विदा

होते समय वहाँ के एक प्रसिद्ध प्रोफेसर ने उन्हें भारत के तत्कालीन वाइसराय के नाम एक परिचय-पत्र भी दिया था। अतएव भारत आने के कुछ ही दिनों बाद वे प्रेजीडेंसी कालिज में भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त कर दिए गए।

विलायत से लौटते ही श्री वसु कलकत्ता के एक कालेज में प्रोफेसर नियुक्त हुए। उन दिनों भारत में अंग्रेजों का शासन था, इसलिए सरकार अंग्रेजों का अधिक सम्मान करती थी और उन्हें भारतीय कर्मचारियों की अपेक्षा तिगुना-चौगुना वेतन देती थी। सरकार का यह भेदभाव श्री वसु को बहुत अनुचित प्रतीत हुआ। इसके विरोधस्वरूप उन्होंने तीन वर्ष तक कालेज से वेतन न लिया। अन्त में उनके अथक और श्रेष्ठ कार्यों से प्रभावित होकर कालेज के अधिकारियों ने पिछले तीन वर्षों का वेतन यूरोपियनों के समान ही दे दिया।

उन दिनों विद्युत-तरंगों के विषय में संसार के कोने-कोने में अन्वेषण हो रहे थे। श्री जगदीश बाबू भी विद्युत्-तरंगों पर परीक्षण करने में जुट गए। कठिनाई यह थी कि कालेज में अच्छी प्रयोगशाला न थी और उनके पास इतना धन न था कि वे निजी प्रयोगशाला बना सकते, फिर भी उन्होंने अपने व्यय से घर पर ही एक प्रयोगशाला बना ली। वसु जी ने अपने परीक्षणों के परिणामस्वरूप विद्युत् तरंगों के विषय में कई मौलिक लेख लिखकर इंग्लैंड की पत्रिकाओं में भेजे। उन पत्रिकाओं ने न केवल उन्हें छाप ही दिया, अपितु श्री वसु के काम की मुक्तकंठ से प्रशंसा भी की। उन दिनों भारतीयों को विज्ञान-क्षेत्र से बिल्कुल अनभिज्ञ तथा इसके अयोग्य समझा जाता था। श्री वसु के अन्वेषणों ने संसार की आँखें खोल दीं और उनकी गिनती विश्व के विख्यात वैज्ञानिकों में होने लगी। विद्युत् तरंगों के विषय में अनुसंधान करते समय उन्होंने विद्युत् चुम्बकीय तरंगें उन्नत

करने वाला एक सर्वथा नवीन प्रकार का यंत्र तैयार किया। इन तरंगों का विधिवत् अध्ययन करते समय वसु महोदय ने इनके द्वारा बिना तार के दूर-दूर संदेश भेजने में भी सफलता प्राप्त की। उन दिनों जगदीश चन्द्र कलकत्ते में रहा करते थे और उनके घर पर आने-जाने वाले व्यक्ति प्रायः उन्हें बिना तार के बिजली की घंटियाँ बजाकर सन्देशों का आदान-प्रदान करते हुए पाते थे।

जब वसु महोदय इन यंत्रों को लेकर १८९५ ई० में इंग्लैंड गये और वहाँ के वैज्ञानिकों के सामने अपने प्रयोगों का प्रदर्शन किया तो इन यंत्रों को व्यावसायिक रूप देने तथा उन्हें व्यवहारिक रूप में काम में लाने की बात वहाँ के चतुर वैज्ञानिकों की दृष्टि से छिपी न रह सकी। वहाँ के बड़े-बड़े विज्ञान-विशारद वसु महोदय के स्वनिर्मित नवीन यंत्रों, उपकरणों एवं उनके द्वारा किये जाने वाले प्रयोगों के प्रदर्शन को देखकर आश्चर्यचकित हो गये थे। यह जानकर कि आचार्य वसु ने वे सब यंत्र अपनी अत्यन्त साधारण-सी प्रयोगशाला में तैयार किये हैं, उन सब का आश्चर्य और भी बढ़ गया।

बेतार की तरंगों के विषय में अन्वेषण करते हुए वसु महोदय को अनुभव हुआ कि धातुओं के परमाणुओं पर अधिक दबाव पड़ने पर उनमें थकावट आ जाती है और उन्हें विश्राम देने पर वह थकावट दूर भी हो जाती है। इस अनुभव ने उन्हें पदार्थों का सूक्ष्म निरीक्षण करने और इस थकान के विषय में खोज करने की ओर प्रेरित किया। बहुत छानबीन करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी पदार्थों में एक ही जीवन प्रवाहित हो रहा है। इस विषय में उन्होंने अनेक प्रयोग किये और सिद्ध किया कि चेतन प्राणियों की तरह धातु आदि जड़ पदार्थ भी थकते हैं, नशे से मस्त होते हैं और विष-प्रयोग से मर जाते हैं। अन्त में यह भी सिद्ध किया कि

संसार के सभी पदार्थ चेतन हैं। अचेतन में भी सुप्त जीवन है। उन्होंने पेड़-पौधों में जीवन तो कई प्रमाणों से सिद्ध किया। वे भी मनुष्यों की तरह सुखी और दुःखी होते हैं। उन पर भी सर्दी और गर्मी का प्रभाव पड़ता है। उन्हें भी हमारी तरह भूख और प्यास लगती है। वे भी खाते, पीते, सोते, काम करते और मर जाते हैं। इस विषय में उन्होंने 'उद्भिजों' पर इतनी परीक्षाएं कीं कि शरीर-विज्ञान की एक पृथक् शाखा ही स्थापित हो गई। उन्होंने अपने अनुसंधानों को एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया।

इस विवरण के प्रकाशित होते ही विदेशों में भी जगदीशचन्द्र वसु की चर्चा होने लगी। इंगलैंड के वैज्ञानिक इस ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए और इन्हें 'रायल सोसाइटी' में अपने नवीन अनुसंधानों पर भाषण देने के लिए इंग्लैंड आमंत्रित किया। रायल-सोसाइटी द्वारा भाषण देने के लिए बुलाया जाना यथेष्ट गौरव और सम्मान की बात समझी जाती है। वह गौरव श्री वसु को तीन बार मिला। इंग्लैंड में सत्र से पूर्व उन्होंने अपना भाषण विद्युत्-तरंगों पर दिया। रायल सोसाइटी के सदस्यों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। दूसरे भाषण में उन्होंने वनस्पतियों के जीवन के विषय में विशद प्रकाश डाला। वैज्ञानिक क्षेत्र में इस विषय पर बड़ी उत्सुकता प्रकट की गई और श्री वसु के दूसरे भाषण का हार्दिक स्वागत किया गया। परन्तु जिन तथ्यों को इंग्लैंड के वयोवृद्ध वैज्ञानिक वर्षों तक वनस्पतियों के सम्बन्ध में अनुसंधान करके भी ज्ञात न कर पाये थे, उन्हें एक भारतीय युवक वैज्ञानिक ज्ञात कर सकेगा, इस पर उनमें से बहुतों को विश्वास तक न हुआ। साथ ही वसु जी के नवीन अनुसंधानों के आधार पर उस समय की प्रचलित कई वैज्ञानिक धारणाएं खण्डित हो जाती थीं। अतः इंग्लैंड के वैज्ञानिकों ने श्री

बसु के मत का शीघ्र विरोध किया।

बसु जी से ईर्ष्या के कारण वहाँ के प्रमुख वैज्ञानिकों ने इनकी खोज के परिणामों को मौलिक मानने से भी इन्कार कर दिया और इसीलिये वह प्रकाशित न हो सके। श्री वसु इस विरोध से तनिक भी न घबराये। उन्होंने इंग्लैंड के कई निष्पक्ष वैज्ञानिकों से अनुरोध किया कि वे सत्य बात की जाँच करें। जाँच की गई और श्री बसु के परीक्षण मौलिक और निजी प्रमाणित हुए।

विदेशों में आचार्य बसु की ख्याति बढ़ते देख भारत सरकार ने भी उनकी विद्वत्ता से मुग्ध होकर उन्हें पेरिस की विज्ञान-कांग्रेस में सम्मिलित होने लिये भारत की ओर से प्रतिनिधि के रूप में भेजा। इस यात्रा से उनकी ख्याति बहुत बढ़ गई और वे विदेशों में 'पूरब के जादूगर' के नाम से प्रख्यात हो गये। जर्मनी के वैज्ञानिक तो उनकी प्रतिभा पर इतने मुग्ध हो गये थे कि वे एक सम्पूर्ण विश्व-विद्यालय ही उन्हें सौंपने को तैयार हो गये थे। कई मित्रों ने बसु जी को जर्मनी का यह आग्रह स्वीकार कर लेने का परामर्श भी दिया, किन्तु वे स्वदेश को छोड़कर किसी विदेशी विश्वविद्यालय में काम करने के लिये किसी भी शर्त पर राजी न हुए। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि मेरा कार्यक्षेत्र भारत ही रहेगा और मैं स्वदेश के उसी विद्यालय में काम करता रहूँगा, जिसमें मैंने उस समय प्रवेश किया था जब मुझे कोई जानता तक न था। इस विश्व-यात्रा में श्री बसु ने इंग्लैंड, अमेरिका, फ्रांस और राष्ट्र-संघ के विशेष निमंत्रणों पर वहाँ-वहाँ जाकर अपनी खोज के परिणाम प्रकट किये। सभी स्थानों में स्वागत धूमधाम से किया गया। इन यात्राओं के अवसरों पर विभिन्न वैज्ञानिक संस्थाओं ने उन्हें अपना सम्माननीय सदस्य मनोनीत करके अपने आपको गौरवान्वित समझा।

संसार के सभी पदार्थ चेतन हैं। अचेतन में भी सुप्त जीवन है। उन्होंने पेड़-पौधों में जीवन तो कई प्रमाणों से सिद्ध किया। वे भी मनुष्यों की तरह सुखी और दुःखी होते हैं। उन पर भी सर्दी और गर्मी का प्रभाव पड़ता है। उन्हें भी हमारी तरह भूख और प्यास लगती है। वे भी खाते, पीते, सोते, काम करते और मर जाते हैं। इस विषय में उन्होंने 'उद्भिजों'पर इतनी परीक्षाएं कीं कि शरीर-विज्ञान की एक पृथक् शाखा ही स्थापित हो गई। उन्होंने अपने अनुसंधानों को एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया।

इस विवरण के प्रकाशित होते ही विदेशों में भी जगदीशचन्द्र वसु की चर्चा होने लगी। इंगलैंड के वैज्ञानिक इस ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए और इन्हें 'रायल सोसाइटी' में अपने नवीन अनुसंधानों पर भाषण देने के लिए इंग्लैंड आमंत्रित किया। रायल-सोसाइटी द्वारा भाषण देने के लिए बुलाया जाना यथेष्ट गौरव और सम्मान की बात समझी जाती है। वह गौरव श्री वसु को तीन बार मिला। इंग्लैंड में सब से पूर्व उन्होंने अपना भाषण विद्युत्-तरंगों पर दिया। रायल सोसाइटी के सदस्यों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। दूसरे भाषण में उन्होंने वनस्पतियों के जीवन के विषय में विशद प्रकाश डाला। वैज्ञानिक क्षेत्र में इस विषय पर बड़ी उत्सुकता प्रकट की गई और श्री वसु के दूसरे भाषण का हार्दिक स्वागत किया गया। परन्तु जिन तथ्यों को इंग्लैंड के वयोवृद्ध वैज्ञानिक वर्षों तक वनस्पतियों के सम्बन्ध में अनुसंधान करके भी ज्ञात न कर पाये थे, उन्हें एक भारतीय युवक वैज्ञानिक ज्ञात कर सकेगा, इस पर उनमें से बहुतों को विश्वास तक न हुआ। साथ ही वसु जी के नवीन अनुसंधानों के आधार पर उस समय की प्रचलित कई वैज्ञानिक धारणाएँ खण्डित हो जाती थीं। अतः इंग्लैंड के वैज्ञानिकों ने श्री

वसु के मत का शीघ्र विरोध किया।

वसु जी से ईर्ष्या के कारण वहाँ के प्रमुख वैज्ञानिकों ने इनकी खोज के परिणामों को मौलिक मानने से भी इन्कार कर दिया और इसीलिये वह प्रकाशित न हो सके। श्री वसु इस विरोध से तनिक भी न घबराये। उन्होंने इंग्लैंड के कई निष्पक्ष वैज्ञानिकों से अनुरोध किया कि वे सत्य बात की जाँच करें। जाँच की गई और श्री वसु के परीक्षण मौलिक और निजी प्रमाणित हुए।

विदेशों में आचार्य वसु की ख्याति बढ़ते देख भारत सरकार ने भी उनकी विद्वत्ता से मुग्ध होकर उन्हें पेरिस की विज्ञान-काँग्रेस में सम्मिलित होने लिये भारत की ओर से प्रतिनिधि के रूप में भेजा। इस यात्रा से उनकी ख्याति-बहुत बढ़ गई और वे विदेशों में 'पूरब के जादूगर' के नाम से प्रख्यात हो गये। जर्मनी के वैज्ञानिक तो उनकी प्रतिभा पर इतने मुग्ध हो गये थे कि वे एक सम्पूर्ण विश्व-विद्यालय ही उन्हें सौंपने को तैयार हो गये थे। कई मित्रों नें वसु जी को जर्मनी का यह आग्रह स्वीकार कर लेनें का परामर्श भी दिया, किन्तु वे स्वदेश को छोड़कर किसी विदेशी विश्वविद्यालय में काम करने के लिये किसी भी शर्त पर राजी न हुए। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि मेरा कार्यक्षेत्र भारत ही रहेगा और मैं स्वदेश के उसी विद्यालय में काम करता रहूँगा, जिसमें मैंने उस समय प्रवेश किया था जब मुझे कोई जानता तक न था। इस विश्व-यात्रा में श्री वसु ने इंग्लैंड, अमेरिका, फ्रांस और राष्ट्र-संघ के विशेष निमंत्रणों पर वहाँ-वहाँ जाकर अपनी खोज के परिणाम प्रकट किये। सभी स्थानों में स्वागत धूमधाम से किया गया। इन यात्राओं के अवसरों पर विभिन्न वैज्ञानिक संस्थाओं ने उन्हें अपना सम्माननीय सदस्य मनोनीत करके अपने आपको गौरवान्वित समझा।

सर जगदीशचन्द्र वसु के कोई सन्तान न थी। परन्तु उनक सम्मान करनेवाले शिष्यों की संख्या काफी बड़ी थी। इन शिष्य में विश्वविख्यात वैज्ञानिक प्रोफेसर मेघनाद साहा जैसे सज्जन भी हैं श्री वसु जी एक महान् वैज्ञानिक होने के साथ-साथ और भी अनेक असाधारण गुणों के स्वामी थे। वे ज्ञानोपार्जन और त्याग के ज्वलन्त उदाहरण थे। वे अपनी आय का केवल पाँचवाँ भाग अपने लि व्यय करते थे। शेष सब रुपया शिक्षण-संस्थाओं को दान कर दिय करते थे। स्वर्ग सिधारने से पूर्व उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति 'वसु विज्ञान मन्दिर' के अर्पण कर दी।

श्री वसुजी ने अपने वैज्ञानिक ढंग से देश-प्रेम का एक अनूठ उदाहरण उपस्थित किया। चिरकाल से देश प्रेम का अर्थ केवल राजनैतिक संघर्ष के रूप में लिया जाता रहा है। परन्तु विज्ञानाचार श्री वसु ने स्पष्ट कर दिया कि वैज्ञानिक बहुत ऊँची श्रेणी की देशसेवा कर सकते हैं। उनकी देशसेवा अपने देश तक ही सीमित न रहकर विश्व सेवा का अंग बन सकती है।

देश-प्रेम के साथ सर जगदीशचन्द्र वसु में एक सफल आचार्य के सभी गुण विद्यमान थे। आधुनिक समय की तड़क-भड़क और ऊपरी दिखावा तो उन्हें तनिक छू भी न गया था। सादगी ही उनका एकमात्र फैशन था। उनका आदर्श और उनका लक्ष्य दोनों ही भारतीय परम्परा के अनुसार लोक-कल्याणकारी थे। उन्होंने अपने असाधारण वैज्ञानिक कार्यों और सदुपदेशों से भारत ही नहीं, अपितु संसार के अनेक देशों के सहस्रों युवकों को विज्ञान-संधान के लिये प्रोत्साहित किया। आज के दिन सैकड़ों वैज्ञानिक उनके उपदेशों से अनुप्राणित होकर अन्वेषण कार्य में लगे हैं। उनके इन शिष्यों ने विज्ञान की जो सेवायें की हैं, उस पर कोई भी आचार्य गर्व कर सकता है।